

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182716

UNIVERSAL
LIBRARY

QUP—24—4.4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 801
K96P Accession No. H4202

Author कुलवीरसिंह कांग

Title पूर्वसमीक्षा के सिद्धान्त : पूर्वाध 1963

This book should be returned on or before the date last marked below.

पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त (पूर्वार्ध)

कुलबीर सिंह कांग

एम० ए०

आमुख वचन तथा परिचय :

श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

प्रकाशक

बिशनचन्द एन्ड सन्ज़

जोगीबाड़ा, दिल्ली-६

सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित

प्रकाशक : बिशनचन्द एन्ड सन्ज

५७५१, जोगीवाड़ा, दिल्ली-६

मुद्रक : नवीन प्रेस,

दरियागंज, दिल्ली-६

भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, के आर्थिक सहयोग से

मूल्य : ६ रु०

समर्पण—

उस अज्ञात कवि को
जिसने सर्वप्रथम
मूक भाषा में, चिह्नों द्वारा
अपने काव्य मनोभावों
का अभिव्यंजन किया

—कुलबीर सिंह कांग

लेखक की रचनाएँ

हिन्दी : पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त
साहित्य मन्थन (प्रेस में)

पंजाबी : साहित्य चिन्तन
बदलां दे रंग
पंजाबी शब्द जोड़ कोश
लंडन दी इक रात (अनु०)
पुश्किन दी रह (,,)
इक्क वेसवा दा दिल (,,)
गगनां तों उस पार (,,)
पूर्वी समीख्या दे सिद्धान्त (प्रेस में)
साहित्य मन्थन (,, ,)

विषय-सूची

१. ग्रामुख वचन	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	७
२. परिचय की वर्षगांठ	देवेन्द्र सत्यार्थी	६
३. काव्य तथा काव्य सिद्धान्त		१६-८८
काव्य की परिभाषा		२१
काव्य के हेतु		२५
काव्य का प्रयोजन		२८
काव्य के भेद		३१
महाकाव्य		३५
महाकाव्य का पाश्चात्य दृष्टिकोण		४१
रस सम्प्रदाय		४४
रीति सिद्धान्त		५५
वक्त्रोक्ति सिद्धान्त		६२
ध्वनि सिद्धान्त		६८
अलंकार सम्प्रदाय		७३
४. नाटक तथा नाट्य सिद्धान्त		८६-१३५
भारत में नाटक का उद्भव तथा विकास		८१
नाटक		१०१
रूपक के प्रभेद		११३
रंगमंच तथा रंगशाला		११७
५. हमारे प्राचीन समीक्षाकार		१३६

मैं जिनका आभारी हूँ

- भाषा-विभाग के डाइरेक्टर जनरल तथा हिन्दी-विभाग के डाइरेक्टर साहब का, जिन्होंने मुझे आर्थिक सहायता देकर मेरा साहस बढ़ाया है।
- श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी का जिन्होंने मेरी इस रचना का स्नेहपूर्वक मूल्यांकन किया है।
- श्री शान्ति देव जी का जिन्होंने मुझे इसके सृजन में बहुत सहयोग दिया है।
- श्री राम मूर्ति जी का जिन्होंने टाइटल का कवर डिजाइन बनाकर कृतार्थ किया है।

—लेखक

आमुख वचन

श्री कुलबीरसिंह जी कांग पंजाबी के सुप्रसिद्ध और हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं। उनकी पंजाबी पुस्तक 'साहित्य चिन्तन' मैंने पढ़ी है। उनकी हिन्दी पुस्तक 'पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त' के कुछ आरम्भिक पृष्ठ देखने का सुयोग भी मुझे प्राप्त हुआ है। श्री कुलबीरसिंह जी ने संस्कृत साहित्य का भी विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की समीक्षा विषयक मान्यताओं का स्वतन्त्र भाव से विवेचन किया है। 'पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त' में पुराने आचार्यों की साहित्यिक मान्यताओं के गम्भीर विवेचन का परिचय मिलता है। संस्कृत का आलंकार शास्त्रीय साहित्य बहुत विशाल और गहन है। अनेक दृष्टियों से इसमें साहित्य के मूलभूत तत्त्वों के परखने का प्रयास है। शब्द और अर्थ के सम्बन्धों की मीमांसा, व्याकरण, न्याय, आदि शास्त्रों में विस्तारपूर्वक हुई है। इन सभी शास्त्रों की विचार-पद्धतियों से साहित्य के प्राणभूत तत्त्वों को खोजने का प्रयास हुआ है। आलंकारशास्त्र की गहराई में जाने के लिए नवद्वितीय दार्शनिक सम्प्रदायों की विवेचन-पद्धति और प्रतिपादन सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है। संस्कृत के विद्वान् शास्त्रकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से रस तत्त्व का विवेचन किया है। बहुत-से भावुक आलोचक पाश्चात्य साहित्य-मीमांसा से भारतीय साहित्य-मीमांसा की तुलना करते समय 'हमारे यहाँ' कहकर किसी एक बात को भारतीय सिद्धान्त मानकर पुराने शास्त्रकारों के साथ न्याय नहीं करते। इस देश के आलंकारिक आचार्यों ने अनेक दृष्टियों से साहित्यगत सौन्दर्य और उत्कर्ष को परखने का प्रयास किया है। कई बार उनमें परस्पर बहुत विरोध हुआ करता है। श्री कुलबीरसिंह ने इन विरुद्धगामी विचारों को समझने का प्रयत्न किया है और अपने स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा उनके वक्तव्यों का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। उनके विचारों से विवेकशील पाठक का मतभेद हो सकता है पर वह धोखे में नहीं रह सकता। उनकी स्वतन्त्र विचार-पद्धति स्वतन्त्र चिन्तन को आमन्त्रित करती है। इसी में इसकी सार्थकता है।

'पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त' काफ़ी अध्ययन-मनन के साथ लिखी गई है। मेरा विश्वास है कि यह साहित्यिक सिद्धान्तों के जिज्ञासुओं को आकर्षित करेगा।

श्री कुलबीरसिंह जी साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में अभी नये आ रहे हैं, लेकिन इनके विचार प्रौढ़ हैं। मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ।

चण्डीगढ़

२४-३-६३

—हजारी प्रसाद द्विवेदी

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—सम्मत



श्री गणेश
साहित्य का
प्रतिपालक
देवता

परिचय

कीं

वर्षगांठ

दे वे न्द्र स त्या र्थी

परिचय की वर्ष-गाँठ

यह हमारे परिचय की कौन-सी वर्ष-गाँठ है, इसका हिसाब तो याद नहीं। पर पाँच-छः वर्ष तो सहज ही गिनाए जा सकते हैं। जो बेमतलब अथवा बाहरी होता है, उसे स्मृति-पट से मिटाये बिना काम नहीं चलता, पर कुलवीरसिंह काँग की बहुत-सी बातें याद रखने योग्य हैं। मैं उसके बारे में लिखता रह सकता हूँ—पन्ने-पर-पन्ने।

एक साँस में बहुत-कुछ कह जाता है कुलवीर, जब भी वह मिलता है, और मैं चुपचाप सुनता रहता हूँ।

मैं उसे बिलकुल नहीं बताना चाहता कि मेरे जीवन की हरियाली कैसे सूखती चली गई। सबसे बड़ा चमत्कार यही है कि वह मुझे सोलह आने आनन्दी जीव समझता है और मैं उसकी इस भ्रान्ति को बनाये रखना चाहता हूँ।

मैं संकल्प और सिद्धि के बीच की बात करता हूँ तो कुलवीर प्रसन्न मुद्रा में मेरी ओर देखता है। हमने अनेक बार एकाग्र साधना और एकनिष्ठ परिश्रम की चर्चा की है। इस दिशा में हम समान-धर्मी हैं। वह मेरी खोज-खबर रखता है, मैं उसकी। सच बोलने में वह कभी भिन्नता नहीं। उसकी यह आदत मुझे प्रिय है।

एक-आध बार उसने मुझे गुस्सा करने का अवसर भी दिया है—बोलकर और लिखकर। उसकी प्रतिक्रिया में मैंने भी चूकना मुनासिब न समझा। कुछ दिन मनमुटाव रहा, फिर जब भ्रान्ति दूर हुई, तो परिचय ने मित्रता का रूप धारण कर लिया।

कानों से देखने और आँखों से सुनने की चेष्टा में भी हमारा एकमत है। उसे रात को जल्दी-जल्दी घर जाने की चिन्ता लगी रहती है, क्योंकि उसका विवाह हुए बहुत दिन नहीं हुए। पर कभी-कभी हमारी मजलिस जम जाती है, तो वह भी घर जाने की बात भूलकर मेरी तरह 'जमीं जुम्बद न जुम्बद गुल मुहम्मद' का प्रतीक बन जाता है।

मैंने अनेक बार देखा है कि अनजानी वस्तु-स्थिति से परिचित होने का सुअवसर वह हाथ से नहीं जाने देता ।

सदा जाग्रत अन्तर्दृष्टि की यात्रा में वह चाय की प्याली के घूंट भरते-भरते मेरे साथ कभी अमरनाथ से कन्याकुमारी जा पहुँचता है, तो कभी अजन्ता और एलोरा की गुफाओं में ।

अचीन्हे प्राणियों का अन्तहीन जुलूस हमारे कैन्वेस पर खुद-ब-खुद अंकित होता रहता है—टैलिप्रिन्टर पर छपनेवाली खबरों की तरह ।

मुँह लटकाये बैठना उसे पसन्द नहीं । चाय की मेज पर हम दुनिया-भर की बातें ले बैठते हैं, और मुझे याद है—वहीं चाय के घूंट भरते-भरते मैं पूछ बैठता हूँ, “कहाँ तक पहुँची तुम्हारी पुस्तक—‘पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त’ ?”

“काम चल रहा है,” वह मुस्कराकर कहता है, “उसके लिए बहुत-कुछ पढ़ना पड़ रहा है ।”

चिरन्तन मानव का सत्य हमें एक समान प्रिय है । हम एक साथ सकौतुक और उतावले हो उठते हैं । मैंने उस रोज़ चाय पीते-पीते उसे ऐक्सरे नुमाइश से सम्बन्धित वह लतीफ़ा सुनाया था । एक साहब ऐक्सरे फोटो ले रहे थे, छोटी उम्र के एक लड़के ने न जाने क्या सोचकर कह डाला, “इन किरणों से जिस्म की एक-एक हड्डी तक देखी जा सकती है ।” इसके उत्तर में ऐक्सरे फोटोग्राफर ने एक मँजे हुए दार्शनिक के अनुरूप किसी क्रूर उदास-सा मुँह बनाकर कहा, “सो तो सच है, बेटा ! पर सिर्फ़ हड्डियाँ ही दीखती हैं, दिल नहीं दीख सकता !” उसके बाद कई दिन तक कुलवीर, जब भी मिलता, ऐक्सरे-सम्बन्धी उस लतीफ़े की बात छेड़ देता ।

मैं कह सकता हूँ, इस पुस्तक की तैयारी में कुलवीर ने मस्तिष्क और हृदय के साथ पूरा-पूरा न्याय किया है ।

यह पुस्तक पढ़ते समय मुझे लगा कि यह सब सामग्री अब तक मेरी पहुँच से परे थी, फिर भी कुलवीर ने मुझ पर कभी अपने पाण्डित्य की छाप लगाने की चेष्टा नहीं की थी ।

बीच-बीच में घर-गृहस्थी की बात भी आ जाती है, कभी किसी चिट्ठी की बात, कभी किसी पुस्तक की बात । मैं मन-ही-मन वेदना की उपलब्धि का लेखा-जोखा देखने लगता हूँ । चर्चा चलती रहती रही है और काफी के कड़वे घूंट भी । मैं बे-मन से ‘हूँ, हाँ’ किये जाता हूँ । एक के बाद एक प्रसंग बदलते रहते हैं ।

कुलवीर तिरछी आँखों से चारों ओर देखता है, और कभी रंगीन तस्वीरों वाली कोई विदेशी पत्रिका खोलकर पन्ने पलटने लगता है। दफ्तर में बैठे-बैठे बिजली की रोशनी में उसे पता ही नहीं चल पाता कि आज दिन-मूँदे के समय पक्षी-दल के घोंसलों की ओर लौटते समय का दृश्य, देखने वाली आँख को कैसा लगा !

कोई अच्छी-सी पुस्तक पढ़ने की बात कुलवीर यों सुनाता है, जैसे वह आज कुतुब मीनार की सीढ़ियाँ चढ़ता रहा हो। उसकी बात सुनते-सुनते मेरा मन अपनी किसी-न-किसी नई कहानी या कविता में अटक रहा है।

कभी वह अपनी दादी-अम्मा की बात ले बैठता है, जिसकी प्रेरणा से उसने 'काँग' (नदी की तूफानी लहर) को उपनाम के रूप में स्वीकार किया। "भई यद्यपि इस बुढ़ापे में सिरदर्द का रोग मेरी दादी का पीछा छोड़ता प्रतीत नहीं होता, पर वह नानकसिंह का हर नया उपन्यास पढ़ने बैठ जाती है। और उसकी अन्तिम साध यही है कि उसकी चिता पर उसके साथ नानकसिंह के नये उपन्यास की एक प्रति के अतिरिक्त एम्प्रो का एक पैकट भी अवश्य अग्नि की भेंट किया जाय।"

यह दादी-माँ उसकी साहित्य-प्रेरणा का महान् स्रोत रही है।

कुलवीर अपने बचपन की बात शुरू कर देता है, और चलते-चलते बात वहाँ तक आ पहुँचती है कि वह किस तरह प्रेस में कम्पोजीटर का काम करते-करते वहाँ से शिक्षा के मार्ग पर चल पड़ा और एम० ए० करके एक कॉलेज में प्रोफेसर लग गया। फिर किस तरह वह नाहन के उस कॉलेज की प्रोफेसरी छोड़कर दिल्ली चला आया, और यहीं जमकर रहने का निश्चय कर लिया।

नाहन छोड़ते समय उसके सामने एक ही बात थी कि जहाँ उस छोटे-से नगर में लोग उसे विद्वान कहकर पुकारने लगे थे, उसे स्वयं यही आभास होता था कि वह अभी विद्वानों की गिनती में कदापि स्थान नहीं पा सका। दिल्ली आकर उसे लगा कि यहाँ तो विद्वानों का असीम सागर हिलोरे ले रहा है। पाँच वर्ष तक उसे निरन्तर संघर्षरत रहना पड़ा—कभी पंजाबी मासिक 'आरसी' के सम्पादकीय विभाग में, तो कभी अतरचन्द कपूर के यहाँ प्रूफरीडर एवं अनुवादक के रूप में। अब हाल ही में वह दिल्ली के एक राजकीय शिक्षा-केन्द्र में भाषा-प्रध्यापक लग गया है और इस संघर्षमय जीवन के साथ-साथ दिल्ली विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० के लिए प्रयत्नशील है।

आंखें टेढ़ी करके वह कुछ सोच रहा होता है, तो बहुत प्रिय लगता है।

कभी-कभी मैं उसके साथ माणिक वन्द्योपाध्याय के उस उपन्यास की बात शुरू कर देता हूँ, जिसका नाम स्वयं लेखक ने प्रथम भेंट के समय 'हर्क' बताते हुए प्रसंगवश अपनी उस कृति की आधार-भूमि भी मेरे सामने प्रस्तुत कर दी थी। मैं कुलवीर से कहता हूँ, "माणिक बाबू का वह कम्पोजीटर लोगों की हस्तलिपियाँ कम्पोज करते-करते यदि यह सोचने लगा कि वह स्वयं भी क्यों लेखक नहीं बन सकता, तो तुम भी तो शायद उसी रास्ते से लेखक बन गए।"

वह खुश होकर कहता है, "चलो पैराडाइज़ रेस्तराँ में चलते हैं आज। वहाँ समोसे अच्छे मिलते हैं।"

बड़े जीवट का प्राणी है कुलवीर। दिलचस्प खबरें सुनने-सुनाने का शौक भी कुछ कम नहीं, जैसे उसे सारी दुनिया की खबर रखने का मन्त्र घुट्टी में मिला हो।

कभी-कभी रात-भर जगे रहने के कारण उसकी आंखें लाल नज़र आने लगती हैं। और मुझे उपदेश करने का मौका हाथ आ जाता है, "इतना काम न किया करो, कुलवीर!"

"यह काम ही ऐसा हाथ में ले लिया," वह बड़ी गहरी आस्था से कहता चला जाता है। " 'पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त'—यह विषय ही ऐसा है। बड़ी जिम्मेदारी का काम है। मैं चाहता हूँ कि कुछ अध्याय तो पूरे-के-पूरे फिर से लिख डालूँ। जहाँ संक्षेप चाहिए वहाँ विस्तार को देखन नहीं होना चाहिए।"

एक दिन उसने बातों-बातों में मुझे बताया, "जब मैं अपनी प्रथम प्रेयसी से अन्तिम भेंट करने गया तो मैंने उससे कहा, 'अब हम कभी नहीं मिलेंगे।' मेरे इस वक्तव्य के उत्तर में उसने मुस्कराकर कहा, 'मैं तुम्हारी किसी-न-किसी रचना में तुम्हारी आवाज सुन लिया कहूँगी।' और अब मैं अपनी प्रत्येक रचना का स्तर ऊँचा रखने की चेष्टा करता हूँ, क्योंकि मुझे अपनी उस पूर्व-प्रेयसी का ध्यान रहता है। और सच पूछो तो 'पूर्वी समीक्षा के सिद्धान्त' लिखते समय तो मैं मानो पग-पग पर उसे अपने निकट अनुभव करता रहा हूँ। वह इसे अवश्य पढ़ेगी और उसे यह आभास हुए बिना न रहेगा कि इसका प्रेरणा-स्रोत भी उसकी वह सूक्ति है जो सदैव मेरा मार्ग-दर्शन करती रहेगी।"

कुलवीर चश्मा लगाए गम्भीर मुद्रा में बात करता रहता है। सड़क पर चलते लोगों की तरह हमारी चर्चा में समीक्षा के सिद्धान्त आते रहते हैं।

और मैं किसी लोक-कथा का प्रसंग छेड़ देता हूँ—“साधु बाबा बोले—‘आगे बढ़ता जा, बेटा ! पहले ताँबे की खान आएगी, फिर चाँदी की खान, फिर सोने की खान……”

अब इस पुस्तक को पढ़ते समय मुझे लगता है, कुलवीर तो सोने की खान पीछे छोड़कर और आगे चला जा रहा है ।

मैंने कुलवीर को टेलीफोन पर बातें करते भी सुना है । और अब मैं देखता हूँ कि भरत मुनि, मम्मट, वामन, भामह, विश्वनाथ एवं अन्य मनीषियों की चर्चा करते समय भी मानो उनसे घण्टों टेलीफोन पर बात करके उनकी एक-एक सूक्ति को प्रस्तुत करते हुए उनकी मर्मस्थली में पहुँचने की पूरी-पूरी चेष्टा की है ।

कहीं कोई सिद्धान्त यों हमारे सामने आता है जैसे जाड़े की शाम धिर आई हो, कहीं जैसे आरती का घण्टा बज रहा हो । सारी बात जैसे सर्वत्र बे-घड़क बे-तकल्लुफी से कहने की दृष्टि ही लेखक को प्रिय रही हो । थोड़े में सारी बात कहने की सूत्र-शैली इस पुस्तक की विशेषता है, और यहीं लेखक को सफलता प्राप्त हुई है । प्रत्येक सिद्धान्त के साथ पूरी-पूरी घनिष्ठता के बिना यह वस्तु-स्थिति इस पुस्तक की उपलब्धि कभी न बन पाती ।

काँफ़ी के कड़वे घूँट के साथ मैं कहता हूँ, “कुलवीर, कई बार ऐसा होता है कि जितना अधिक अध्ययन करके हम तरह-तरह की सूचना जुटाते हैं, उतना ही हम देखते हैं कि रचना में जोर नहीं आ पाया । वह किसी ने ठीक ही कहा है कि हम वह पुस्तक नहीं लिखते जो हम लिखना चाहते हैं, बल्कि हम तो वही पुस्तक लिखते हैं जो हम वस्तुतः लिख सकते हैं । पर शायद एक आलोचक की कृति पर तो इस दृष्टि से देखना ठीक न होगा ।”

वह श्रद्धा और विस्मय से मेरी ओर देखता रह जाता है ।

मैं उपयुक्त अवसर पाकर फिर कहना शुरू करता हूँ, “जिस भाषा में हम लिखते हैं, उस पर हमारा अधिकार तो होना ही चाहिए । उपयुक्त शब्द का ठीक-ठीक प्रयोग करते समय वैसा ही रस आना चाहिए जैसा ड़ाब पीकर आता है । बात की गहराई में उतरने की पैनी दृष्टि होनी चाहिए, और पूरे-के-पूरे शब्द-चित्र पर विचार करने का साहस और विवेक भी । तभी शब्दों में प्राण-प्रवाह सम्भव है । इस दृष्टि से तुम्हारी रचना मुझे प्रिय लगी ।”

इस पुस्तक को पढ़ते समय मुझे लगा कि इसमें शताब्दियों की विचार-

यात्रा का लेखा-जोखा उपलब्ध है। कई स्थानों पर तो ऐसा लगता है कि प्राचीन मनीषी हमारे पास ही खड़े हैं, पर वस्तुतः वे हमसे दूर हैं, और अनेक दिनों से हमें उनका कोई पत्र नहीं आया।

यह पुस्तक पढ़ते-पढ़ते मैं अनेक बार वर्तमान में लौट आया, और पुनः वर्तमान से अतीत की 'वनस्थली' में किसी मनीषी के चरणों में जा बैठा।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने कहा है :

कत अजाना रे जानाइले तुमि

कत घरे दिले ठाई

दूर के करिले निकट, बन्धु !

पर के करिले भाई।

['कितने अनजाने व्यक्तियों को तुमने जाने-पहचाने बनाया और कितने घरों में स्थान दिलाया। बन्धु, तुमने दूर को निकट और पराए को भाई बनाया।']

पिछले दिनों जब वह इस पुस्तक की तैयारी के साथ-साथ कुछ साहित्य-कारों के रेखाचित्र लिखने में व्यस्त था तो उसे एक मित्र ने यह राय दी, "भई तुम्हें मण्टो की कृति 'गंजे फ़रिश्ते' अवश्य पढ़ लेनी चाहिए।" इसके उत्तर में कुलवीर ने कहा, "मैं तो अपने रेखाचित्रों में 'मण्टो' बनने की बजाय 'कांग' ही बनना पसन्द करूँगा।"

उसके रेखा-चित्रों का संग्रह पंजाबी में 'बढ़लाँ दे रंग' [बादलों के रंग] के नाम से प्रकाशित हो रहा है, और मेरा विश्वास है, उसकी यह कृति श्रेष्ठ गद्य की दृष्टि से ही नहीं, गहन मानव-अध्ययन की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट कृति के रूप में गौरवान्वित होगी।

हाल ही में मुझे चण्डीगढ़-यात्रा के दौरान दिल्ली से एक ही डिब्बे में कुलवीर के साथ लम्बी साहित्य-चर्चा का अवसर मिला। बीच-बीच में वह खिड़की से चाँद की ओर निहारने लगता, और फिर जब मैंने कहा कि चाँद तो तुमसे बहुत दूर है, तो उसने मुस्कराकर उत्तर दिया, "चाँद तो मेरे दिल में है, ठीक वैसे ही जैसे मेरे मस्तिष्क पर इस रामायण की अमिट छाप मेरा मार्ग-दर्शन करती-रहती है। जानते हैं आप ? आज से अनेक वर्ष पूर्व पिताजी ने रामायण की एक प्रति मेरी बारहवीं वर्षगांठ के अवसर पर मुझे उपहार में दी थी।"

ऐसा लगता है कि निर्भीक होकर लेखन-कार्य में संलग्न रहने का आदर्श उसे रामायण के अध्ययन से प्राप्त हुआ। नये पंजाबी आलोचकों में उसे अपना स्थान बनाने में यथेष्ट संघर्ष करना पड़ा, और उसने बहुत-से मित्रों को खोने की परवाह न करते हुए अपनी लेखनी को किसी की कठपुतली बनने से सदैव बचाए रखा। और मैं कह सकता हूँ कि आधुनिक पंजाबी आलोचना के क्षेत्र में उसका स्वर गहन चिन्तन और विवेकशील अध्ययन का प्रतीक है।

“भई क्या बताऊँ,” बातों-बातों में उसने बताया, “एक बार मैंने नानक सिंह के उपन्यास ‘नामूर’ की आलोचना लिखकर सहर्ष उनके खबरे रख दी, तो उसे पढ़कर उन्होंने मेरे नाम एक पत्र में लिखा—‘आयुष्मान् ! अभी तुम्हारी उम्र आलोचना लिखने की नहीं है। तुम पहले की तरह कहानियाँ ही लिखा करो।’ और उस उपदेश ने मुझे इस पथ से हटाने की वजाय और भी निर्भीक होकर इस मार्ग पर चलते रहने की प्रेरणा दी।”

पंजाबी आलोचना के क्षेत्र में उसकी सर्वप्रथम कृति ‘साहित्य-चिन्तन’ बहुत सराही गई, और उसकी आगामी कृति ‘साहित्य-मन्थन’ का उगसे भी कहीं अधिक स्वागत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यद्यपि लेखक ने प्राचीन साहित्यकारों के सिद्धान्तों की व्याख्या तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा है, परन्तु जहाँ-तहाँ उसकी पैनी तथा मौलिक दृष्टि की छाप उसके व्यक्तिगत चिन्तन की सौगन्ध खाती प्रतीत होती है। विशेष रूप से इस ग्रन्थ में ‘महाकाव्य’, ‘भारत में नाटक का उद्भव तथा विकास’ एवं ‘रंग-शाला तथा रंग-मंच’ आदि निबन्धों में उसका अध्ययन नई दृष्टि लेकर चलता है।

कुलवीर कर्मशील है। उसका बहुत-से महान् साहित्य-अनुभवियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु वह नये लेखकों की भाँति इन सम्पर्कों के आश्रित विकास नहीं करना चाहता, अपितु कर्म की आधारशिला पर अपनी साहित्य-रचना का भवन निर्माण करना चाहता है।

इस पुस्तक को पढ़ने समय मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया है कि आनन्द-उन्मेष में ही चराचर जीवन-विधि नित-नूतन होकर रूप-लीला के रंग-मंच पर गति-प्रगति-परम्परा में साँस ले रही है और यहीं सीमा को लाँघकर असीम से परिचित होने की साध मन में जाग उठती है।

पुस्तकों की भीड़ में कभी-कभी असल पुस्तक खो जाती है, मेले में

खोये बालक के समान । परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि कुलवीरसिंह 'काँग' की यह कृति संवेदनशील पाठक को अपनी संवेदनशीलता की डोर में बाँधे बिना न रहेगी ।

प्रत्येक पुस्तक की अपनी सत्ता होती है, व्यक्ति की तरह ही । और मैं तो कहूँगा कि प्रत्येक लेखक में अहम् सजग रहता है, परन्तु जब वह अहम् सृजन की टेर बनकर चिन्तन में ढल जाता है तो लेखक की लेखनी पुण्य-पथ पर चल पड़ती है । और सृजन की उसी अमृत-वेला में हमारे परिचय की वर्ष-गाँठ धन्य हो उठी है ।

‘कल्पना’

५ सी/४६, रोहतक रोड, नई दिल्ली

२६ मार्च, १९६३

—देवेन्द्र सत्यार्थी

काव्य

तथा

काव्य-सिद्धान्त

काव्य की परिभाषा

काव्यशास्त्र में परिभाषा का कार्य जितना कठिन है उतना सम्भवतः ही कोई अन्य कार्य होगा। परिभाषा के लिए तर्कबुद्धि पैनी तथा अतलस्पर्शी दृष्टि अपेक्षित है। परिभाषा का कार्य इसलिए भी कठिन है कि वह उचित तथा सन्तुलित शब्दावली पर निर्भर होती है। यही कारण है कि काव्यशास्त्र या आलोचना-क्षेत्र में बहुत कम व्यवित ऐसे होते हैं जो परिभाषा करते हैं। शेष व्यक्तित्व साहित्य-प्रश्नों तथा साहित्य-समस्याओं का विश्लेषण मात्र करते हैं। संस्कृत समीक्षाशास्त्र में ऐसे अनेक मेधावी आचार्य हुए हैं जिन्होंने साहित्य का लक्षण किया है।

संस्कृत परिभाषाओं की आलोचना करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कृत आचार्यों ने काव्य अथवा साहित्य को काव्य-पुरुष का शरीर रूपक दिया है, अतः उनकी परिभाषाएँ काव्य-पुरुष के ही चारों ओर केन्द्रित हैं। उनकी सफलता-विफलता, पूर्णता-अपूर्णता का विवेचन इसी आधार पर करना चाहिए।

संस्कृत काव्यशास्त्र में भामह ही ऐसे सर्वप्रथम आचार्य थे जिन्होंने काव्य का लक्षण किया। उनकी परिभाषा है :—

“शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।”

अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। यह परिभाषा संस्कृत काव्य-शास्त्र में मान्य नहीं हो सकी। इसका मुख्य कारण यही दिखाई देता है कि यह परिभाषा इतनी संक्षिप्त थी कि काव्य का ठीक ज्ञान कराने में भी असमर्थ थी। इसमें सम्भवतः अव्याप्ति दोष था। फिर भी इस रचना में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है वह पद कि भामह ने ‘शब्दार्थ सहितौ’ में शब्द-अर्थ के सहभाव को महत्त्व देकर वाङ्मय से काव्यरूप की भिन्नता अथवा अन्तर स्पष्ट कर दिया। यह कार्य साहित्य की परिभाषा तथा उसके विवेचन के लिए भी अनिवार्य था।

भामह के उपरान्त दण्डी का नाम आता है जिन्होंने काव्य-लक्षण किया। दण्डी की परिभाषा :

“शरीरं तावदिष्टार्थं व्यवच्छिन्ना पदावली ।”

अर्थात् इष्ट अर्थयुक्त पदावली ही काव्य का शरीर है ।

भामह तथा दण्डी की परिभाषा में दोनों आचार्यों का ध्यान पदावली की ओर अर्थात् शरीर की ओर गया है, आत्मा की ओर नहीं । वास्तव में ये दोनों आचार्य अलंकारवादी ही थे । देह के आगे या भीतर उनकी दृष्टि नहीं गई, जा भी नहीं सकती थी, उनकी दृष्टि सीमान्त थी ।

आत्मा की खोज का सर्वप्रथम कार्य वामन द्वारा हुआ, यद्यपि उन्होंने भी शरीर को अथवा शारीरिक सौन्दर्य को ही आत्मा मान लिया है । जैसे वामन की परिभाषा है :

“रीतिरात्मा काव्यस्य”

अर्थात् रीति ही काव्य की आत्मा है । इसमें आत्मा का अनुसन्धान अवश्य है । इसमें रीति को आत्मा माना गया है । वामन रीतिवादी थे । रीति-सिद्धान्त के वे प्रतिष्ठापक थे । अपने सिद्धान्त के अनुसार ही उन्होंने रीति को काव्य-आत्मा घोषित किया । ऐसा करना उनके लिए उचित भी था, क्योंकि रीति ही उनका काव्य-सिद्धान्त है, उसको यदि आत्मा न कहने तो और किसको कहते ! यद्यपि वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित करके कोई नया कार्य नहीं किया, क्योंकि उनकी परिभाषा भी भामह तथा दण्डी के समान शरीर से आगे नहीं बढ़ सकी । वामन की परिभाषा से एक लाभ अवश्य हुआ । काव्यशास्त्र में काव्य-आत्मा का प्रश्न उत्पन्न हो गया ।

आनन्दवर्धन ने आत्मा के प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए और काव्य की आत्मा को निश्चित करते हुए अपनी परिभाषा बताई । उनका काव्यलक्षण इस प्रकार है :

“काव्यस्यात्मा ध्वनिः”

ध्वनि काव्य की आत्मा है । ध्वनिकार की यह परिभाषा देहवादी परिभाषाओं की अपेक्षा आत्मा के अधिक समीप है ।

काव्य की आत्मा का अनुसन्धान न हो सकने का कारण यह था कि इन विद्वानों के आगे काव्य-पुरुष शरीर का रूपक स्पष्ट नहीं था । सर्वप्रथम यह कार्य शेखर ने किया । उन्होंने इस रूपक को स्पष्ट करने के साथ-साथ ‘रस-आत्मा’ लिखकर काव्य-पुरुष की आत्मा का अनुसन्धान पूर्ण कर दिया, किन्तु उन्होंने आत्मा के अनुसन्धान के उपरान्त भी काव्य-लक्षण नहीं दिया ।

ऊपर जितने लक्षणों का विवेचन किया है वे अधिक संकुचित थे । अतः वे काव्य का कोई पूर्ण रूप सामने नहीं लाते थे । कुन्तक ने सर्वप्रथम परिभाषा को व्याप्त रूप दिया । उनका काव्य-लक्षण है :

“शब्दार्थो सहितो वक्र-कवि व्यापार शालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितो काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥”

इस परिभाषा में पूर्ववर्ती आचार्यों के सभी लक्षण संकलित हैं । ‘शब्दार्थ सहितो’ भामह, ‘तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितो’ दण्डी की ‘दृष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली’ ही है । वामन की रीति का समावेश भी इसी से हो जाता है । ‘वक्र कवि व्यापार शालिनि’ में ध्वनि और रस का अन्तर्भाव हो जाता है ।

यह परिभाषा असन्तुलित तथा अस्पष्ट है । इसी अस्पष्ट परिभाषा को अपने ‘वक्रोक्ति जीवितम्’ में आगे चलकर स्पष्टीकरण भी किया है ।

श्रीचित्य सम्प्रदाय के आचार्य क्षेमेन्द्र ने—

“श्रीचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।”

अर्थात् ‘रससिद्ध श्रीचित्य ही काव्य का जीवन है ।’ इस परिभाषा में श्रीचित्य शब्द काव्य-स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि वह विषयवस्तु अथवा रस की सीमा का बोध कराता है । शेष रस शब्द ही रह जाता है, जिससे लक्षण आत्मा को तो स्पर्श करता है, किन्तु परिसीमा के कारण परिभाषा दोषपूर्ण हो गई है । संस्कृत में जिस काव्य-लक्षण पर अधिक चर्चा रही है वह है मम्मट का काव्य-लक्षण :—

“तद्दोषो शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।”

अर्थात् दोषों से रहित, गुणयुक्त और अलंकारसहित तथा कहीं-कहीं रहित रचना काव्य कही जाती है । विश्वनाथ ने इस काव्य-लक्षण की तथा उदाहरण की बड़ी कड़ी आलोचना की है । ‘अदोषो’ के बारे में उनका विचार है कि संसार में ऐसी रचना मिलनी अत्यन्त कठिन है जो पूर्ण दोषमुक्त हो । अतः सर्वत्र काव्य का अभाव होगा । ‘सगुणो’ के विषय में विश्वनाथ का कथन है कि गुण रस के धर्म हैं । ये रस में रहते हैं । शब्द और अर्थ को सगुण नहीं कहा जा सकता । और ‘सगुणो’ शब्दार्थ का विश्लेषण बना भी अनुचित है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट के लक्षण की आलोचना की है ।

उन्होंने शब्द-अर्थ पर आपत्ति उठाई । उनका आशय है कि काव्यत्व शब्द अर्थ में नहीं रहता, शब्द में ही काव्यत्व रहता है ।

महापात्र विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने जो मम्मट के लक्षण की आलोचना की है वह व्यक्तिगत अधिक हो गई है। इन आलोचनाओं में विरोध अपनी सीमाओं को लाँघ गया है। यह भी ठीक है कि मम्मट की परिभाषा काव्य की आत्मा के समीप भी नहीं फटकती। काव्य-पुरुष के शारीरिक गुणों तथा दोषों तक ही सीमित रह जाती है। इसी कारण वह अपूर्ण है।

विश्वनाथ ने मम्मट की परिभाषा की आलोचना करने के बाद अपनी परिभाषा दी है :

“वाक्यं रसात्मकं काव्यं”

अर्थात्—‘रसात्मक वाक्य ही काव्य है।’ इसमें रस-आत्मा का बोध तो हो जाता है, किन्तु वाक्य से शरीर पक्ष का ठीक बोध नहीं हो पाता। अतः यह परिभाषा भी कई व्यक्तियों की दृष्टि में एकांगी है।

संस्कृत के सबसे अर्वाचीन विद्वान् हैं पण्डितराज जगन्नाथ। उनकी परिभाषा है :

“रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।”

अर्थात्—‘रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।’

पण्डितराज की परिभाषा में शब्द को प्रधानता दी गई है चाहे उसका रमणीय अर्थ बाधक होना अनिवार्य है। किन्तु यह तात्त्विक रूप से विपरीत है, क्योंकि शब्द और अर्थ पृथक्-पृथक् कोई महत्त्व नहीं रखते। दोनों में ही काव्यत्व हो सकता है, एक में नहीं।

इस प्रकार संस्कृत समीक्षाशास्त्र में उन सभी आचार्यों ने काव्य का लक्षण किया जो विशेष सम्प्रदाय के जन्मदाता हैं। उनको छोड़कर दूसरे आचार्यों ने भी काव्य के लक्षण किये। किन्तु सम्प्रदाय के जन्मदाता अपने सिद्धान्त की परिसीमा में बँधे थे। इसीसे उनका काव्य-लक्षण अव्याप्ति में घिरा रहा।

किन्तु जो आचार्य सम्प्रदाय के जन्मदाता नहीं थे उनके काव्य का लक्षण ही अधिक पूर्ण है।

इन काव्य-परिभाषाओं को देखकर संस्कृत के आचार्यों की सूक्ष्म बुद्धि का सुन्दर परिचय मिलता है।

काव्य के हेतु

काव्य हेतु का शास्त्रीय अर्थ है काव्य निर्माण अथवा मृजन के मूल कारण । जिन कारणों से काव्य का निर्माण हो उसे भारतीय आचार्यों ने काव्य हेतुओं के नाम से पुकारा है । संस्कृत में संभवतः सर्वप्रथम दण्डी ने काव्य हेतुओं का विवेचन किया है । वे काव्य के तीन हेतु मानते हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम् ।

अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्य-सम्पदः ॥

अर्थात् नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल-शुद्ध लोक तथा शास्त्र ज्ञान और अमन्द अभियोग काव्य के कारण हैं । दण्डी के अनुसार काव्य के निम्न तीन कारण हुए—

(१) प्रतिभा, (२) लोकशास्त्र ज्ञान, (३) और अमन्द अभियोग अर्थात् अभ्यास ।

ममट ने भी प्रायः यही तीन कारण बताये हैं किन्तु उनके कारण अधिक स्पष्ट हैं । उन्होंने कारण लिखे—(१) शक्ति, (२) निपुणता, (३) और अभ्यास ।

इन दोनों आचार्यों के अतिरिक्त वामन ने काव्य हेतुओं का विवेचन करते हुए उपरोक्त आचार्यों की भाँति तीन कारण माने हैं—

(१) लोक ।

(२) विद्या ।

(३) प्रकीर्ण ।

इन तीनों का विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) लोक का अर्थ लोक-व्यवहार है अर्थात् कवि को जितना अधिक लोक-ज्ञान होगा उतना ही वह सफल कवि होगा ।

(२) विद्या से अभिप्राय साहित्यिक शब्दशास्त्र कोश-छन्द शास्त्र और व्यावहारिक कला दण्डनीति आदि विविध कलाओं से है ।

जब तक कवि को शब्दशास्त्र-व्याकरण कोश आदि का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक वह शब्दों का समुचित प्रयोग नहीं कर सकता । अतः शब्दों का

भावानुकूल, विषयानुकूल, रसानुकूल व्याकरण के नियमानुसार प्रयोग करने के लिए कवि को इन विद्याओं का ज्ञान परमावश्यक है। इन साहित्यिक विद्याओं के अतिरिक्त कामकला आदि विद्या का भी ज्ञान आवश्यक है क्योंकि यथार्थता की दृष्टि से काव्य में प्रत्येक विषय का औचित्यपूर्ण वर्णन होना चाहिये इसके लिए विषय का पूर्ण ज्ञान कवि के लिए यथेष्ट है। काव्य में प्रेमभाव की प्रधानता है अतः उसकी पूर्ण व्यंजना के लिए कामशास्त्र आदि का अध्ययन जरूरी है। जो कलाकार ऐसा नहीं करता वह इस विषय का वर्णन औचित्यपूर्ण नहीं कर सकता। औचित्य भारतीय काव्यशास्त्र का मुख्य तत्त्व है।

राजनीति, नीति, अनीति का ज्ञान भी कवि को होना चाहिए। यदि इनका ज्ञान नहीं होगा तो उसका काव्य अराजकता का सूचक तथा गम्भीरता से शून्य दिखाई देगा।

इन सब कारणों से विद्या का महत्व है।

(३) प्रकीर्ण का अर्थ है अन्य कवियों अथवा साहित्यकारों के काव्य का पूर्ण परिचय, काव्यकला का अभ्यास, काव्य उपदेष्टाओं की सेवा, प्रतिभा और मन की एकाग्रता। काव्य के निर्माण में इनका सर्वाधिक महत्व है।

वामन के लोक-विद्या और प्रकीर्ण में से लोक-विद्या तो प्रायः एक ही है। प्रकीर्ण में अभ्यास प्रतिभा और एकाग्रचित्तता।

संक्षेप में वामन के निम्न काव्य हेतु हुए—(१) लोक-विद्या, (२) प्रतिभा, (३) अभ्यास, (४) और एकग्रचित्तता।

वामन के अतिरिक्त आचार्यों ने भी प्रतिभा, अभ्यास और निपुणता का महत्व माना है। संस्कृत आलोचना-शास्त्र में प्रधानतया मम्मट का मत ही मान्य है शक्ति, निपुणता और अभ्यास। वामन और अन्य आचार्यों के हेतुओं में कोई विशेष भिन्नता नहीं। किन्तु इन तीनों काव्य हेतुओं में कौन मुख्य है इस विषय में अवश्य विवाद रहा है।

भामह, वामन ने प्रतिभा को मुख्य माना है। दण्डी ने प्रतिभा और अभ्यास को समान स्थान दिया है। एक शब्द में संस्कृत आलोचना शास्त्र में प्रतिभा ही काव्य का मुख्य हेतु रही है। वास्तव में प्रतिभा का पहला स्थान है अभ्यास और निपुणता दोनों सामान्य हैं।

संस्कृत ही नहीं पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र में भी प्रतिभा का महत्वपूर्ण योग माना है। वे भी प्रतिभा को मुख्य स्थान देते हैं। समीक्षा-शास्त्र को छोड़कर सृजनात्मक साहित्य में अनेक कलाकार प्रतिभा को ही महत्व देते रहे हैं या यूँ कहें कि स्वतः प्रतिभा से उनका काव्य निःसृत हुआ है किन्तु कुछ का काव्य प्रयत्न

अभ्यास से उत्पन्न हुआ है। उनके काव्य-निर्माण में प्रतिभा का प्रथम स्थान प्राप्त नहीं। संस्कृत का माघ और अंग्रेजी के मिलटन का काव्य इस तथ्य का साक्षी है। किन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रयत्न साध्य काव्य उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना स्वतः निसृत काव्य होता है।

इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य स्वतः निसृत हो और प्रयत्न के द्वारा उसको और पूर्ण बनाया जाये तभी कवि की सफलता तथा महानता है। अतः प्रतिभा को मुख्य स्थान ही देना पड़ता है। क्योंकि यदि नैसर्गिकी की प्रतिभा काव्य का मूल हेतु न हो तो फिर तो प्रत्येक विद्वान् कवि साहित्यकार बन सकता है। पर जैसा हम देखते हैं काव्य का निर्माण विद्वान् के वश की बात नहीं। यह तो प्रतिभा की उपज है। अशिक्षित व्यक्ति भी काव्य का सृजन करते हैं, वे इस तथ्य के साक्षी हैं।

अतः काव्य-निर्माण के लिये ज्ञान नहीं सर्वप्रथम प्रतिभा की आवश्यकता है। भारतीय आचार्यों ने उसे काव्य का प्रधान हेतु माना है।

काव्य का प्रयोजन

मनुष्य का प्रत्येक कर्म किसी-न-किसी प्रयोजन से सन्नद्ध होता है, विशेषकर आज के बुद्धिवादी मनुष्य का। गीता में भी जिसमें निष्काम कर्म को महत्व दिया गया है कर्म को जीवन का उच्च लक्ष्य माना गया है, उसके निष्काम कर्म में भी कर्तव्य की भावना निहित है। संस्कृत में कर्म की सार्थकता के बारे में एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है—

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं, तावत् तत् केन गृह्यते ॥

अर्थात् “प्रत्येक शास्त्र अथवा काव्य का कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है। यदि प्रयोजन ही न हो तो उसकी सार्थकता ही क्या ?”

निसंश्लेष काव्य का कुछ-न-कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। यह प्रश्न दूसरा है कि काव्य का प्रयोजन काव्य की आत्मा से सम्बन्धित न होकर उसके बाह्य रूप से सन्नद्ध हो। अथवा स्थूल या सूक्ष्म हो। व्यक्तिगत या समष्टीगत हो अथवा कलावादियों की भाँति काव्य ही क्यों न हो। संस्कृत के प्रायः प्रत्येक काव्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन का विवेचन मिलता है। साहित्याचार्यों में सर्वप्रथम हम भरत मुनि का मत उद्धृत करते हैं क्योंकि कालक्रम से उन्हीं का नाम सर्वप्रथम आता है। भरत मुनि ने लिखा है—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

अर्थात् “यह नाटक धर्म, यश, आयु का सार्थक हितकारी, बुद्धिवर्धक एवं लोकोपदेश देने वाला होगा।” भरत के अनुसार काव्य के छः प्रयोजन हुए— धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि और उपदेश। भरत के उपरान्त भामह ने भरत के काव्य प्रयोजन को ही प्रचलित स्पष्ट और भिन्न शब्दावली में उद्धृत कर दिया है—

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वंचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

उत्तम काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चतुर्वर्ग फल प्राप्ति) की कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है।

रुद्रट ने भी चतुर्वर्ग फल प्राप्त को ही काव्य का प्रयोजन माना है। विश्वनाथ ने भी भामह रुद्रट और कुंतक का अनुसरण करते हुए 'चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्प धियामपि' कहकर पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को ही दुहराया है। चतुर्वर्ग फलप्राप्ति की सर्वप्रथम प्रबल स्थापना कुन्तक ने की है।

ऊपर के उद्धृत आचार्यों भरत, भामह, रुद्रट विश्वनाथ और कुंतक के काव्यप्रयोजनों में कोई विशेष पार्थक्य नहीं। जैसे हम पहले कह आये हैं कि भरत और भामह में शब्द भिन्नता ही है। प्रयोजन भिन्नता नहीं। भामह के धर्म, अर्थ, भरत मुनि के धर्म हित है, भामह का कलाओं में नैपुण्य भरत का बुद्धिविवर्धन है, भरत का यश और भामह की कीर्ति एक ही हैं। यहाँ तक दोनों आचार्यों में कोई भिन्नता नहीं। किन्तु भामह का आनन्द और भरत का लोकोपदेश अवश्य विचारणीय हैं। इनमें भी भरत के लोकोपदेश का अन्तर्भाव भामह के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में किया जा सकता है। किन्तु भामह का 'आनन्द' आवश्यक नवीन उद्भावना है। भरत ने चाहे रस को काव्य का मूल माना है अतः यह तत्व भरत के लिए नया नहीं वरण भरत इसके संस्थापक हैं। किन्तु भरत के प्रयोजन सम्बन्धी विवेचन से यह कभी भी नहीं माना जा सकता कि भरत भी आनन्द को काव्य प्रयोजन मानते थे। हाँ विरोधी वे अवश्य नहीं हो सकते थे। इस प्रकार भामह की आनन्द सम्बन्धी उद्भावना (प्रयोजन के क्षेत्र में) नवीन अवश्य है।

हम पीछे कह आये हैं कि आनन्द के प्रबल प्रतिष्ठापक कुन्तक ही हैं। यद्यपि इनके पूर्व वामन-भामह ने आनन्द काव्य का प्रयोजन मान लिया था। किन्तु उन्होंने आनन्द को एक अंग रूप में ही स्वीकार किया था। आनन्द को प्रधानता देने का श्रेय कुन्तक को ही है। जैसे—

चतुर्वर्ग फल स्वादमपि अतिक्रम्यतद्विदाम् ।

काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितम्यते ॥

अर्थात् काव्यामृत का रस काव्य को समझने वाले सहृदयों के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। किन्तु एक अन्य स्थान पर उन्होंने व्यवहार और औचित्य के सम्यक् ज्ञान को भी काव्य का प्रयोजन माना है—इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के तीन प्रयोजन हुए। (१) चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, (२) व्यवहार और औचित्य का

परिज्ञान, (३) चतुर्वर्ग-फल प्राप्ति के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार की प्राप्ति । इन तीनों प्रयोजनों का अन्तर्भाव भरत और भामह के प्रयोजनों में हो जाता है किन्तु आनन्द को प्राथमिकता देना काव्य के अधिक अनुकूल है ।

वामन ने रीतिवादी होते हुए भी प्रीति (आनन्द) को काव्य का एक उद्देश्य माना है । वामन काव्य के दो उद्देश्य मानते हैं कीर्ति और प्रीति । इन्होंने काव्य का प्रयोजन काव्य से असंबद्ध अर्थ ही माना है न ही वे काव्य के भीतर प्रवेश करके आनन्द को काव्य का मुख्य उद्देश्य घोषित कर सके । इसका कारण उनके रीतिवादी-कला पक्ष को प्रधानता देने वाले रूप—दोने में ढूँढ़ा जा सकता है ।

भोज मम्मट आदि ने भी काव्य के वही पूर्वोक्त प्रयोजन माने हैं ।

रस तथा ध्वनिवादी आचार्य जो रस को काव्य की आत्मा मानते हैं— उनके लिए तो 'आनन्द' काव्य का एकमात्र चर्म प्रयोजन है ।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों के काव्य प्रयोजन का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता कि इनका प्रयोजन एकांगी नहीं । इसमें एक ओर लोकहित की भावना है दूसरी ओर आनन्द प्राप्ति का तात्त्विक रूप । इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य के कलापक्ष को महत्व देने वाले आचार्यों की दृष्टि काव्य के ब्राह्म तथा निम्न स्तर के उद्देश्यों की ओर अधिक रही और आत्मवादी आचार्यों ने आनन्द को ही प्रथम स्थान दिया । दोनों प्रकार के आचार्यों की ओर से ऐसा होना स्वाभाविक भी था ।

आधुनिक पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी यही दो काव्य प्रयोजन माने गये हैं । एक व्यक्तिगत आनन्द-प्राप्ति दूसरा सामाजिक लोक-मंगल ।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों तथा पाश्चात्य आचार्यों के काव्य-प्रयोजनों में कोई अन्तर नहीं । दोनों में शब्दावली का भेद है ।

इस प्रसंग में एक बात और स्पष्ट कर लेनी आवश्यक है । वह यह कि भारतीय आचार्यों में कुछ एक ने अर्थ यश आदि को काव्य का प्रयोजन मानकर उसको निम्न स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है । कुछ एक ने मोक्ष को काव्य का प्रयोजन मानकर उसे सामान्य जीव से ऊँचा उठाकर उसकी व्यापकता को धक्का पहुँचाया है ।

वास्तव में काव्य की दो ही सिद्धियाँ हैं : आनन्द और लोक-मंगल । काव्य की पूर्णता और उदात्तता भी इसी में है ।

काव्य के भेद

संस्कृत आलोचना शास्त्र में पद्य का जितना विस्तृत वर्णन मिलता है उतना गद्य का नहीं। इसका एक मात्र कारण यही है कि गद्य का अभाव था। संस्कृत साहित्य गद्य के विविध अंगों से शून्य है। संस्कृत में जिस गद्य की प्रधानता रही है वह है नाटक। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र तो एक मात्र नाट्य विवेचन से ही सम्बन्धित है। इसी कारण संस्कृत आलोचना शास्त्र में पद्य और नाटक का ही अधिक विवेचन है। काव्य का वर्गीकरण करते समय आचार्यों के सम्मुख पद्य और नाटक ही रहा होगा इसका स्पष्ट प्रमाण तो यही है कि उन्होंने इन्द्रियों के आधार पर काव्य के दो भेद दृश्य और श्रव्य किये हैं जो प्रधान रूप से पद्य और नाटक से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने काव्य के इन दोनों अंगों को ध्यान में रखते हुए काव्य के भेद प्रभेद कई दृष्टियों से किये हैं।

इन्द्रियों के आधार पर उन्होंने काव्य के दो भेद माने हैं। दृश्य और श्रव्य।

दृश्य : वह गद्य-रचना जिसका कर्णेन्द्रिय के द्वारा (देखकर) आनन्द प्राप्त किया जाये उसे दृश्य काव्य कहते हैं। इस भेद के अन्तर्गत एकमात्र नाटक आता है क्योंकि नाटक का पूर्ण आनन्द उसके आनन्द को देखकर ही प्राप्त किया जाता है जिससे उसे दृश्य की संज्ञा दी गई है। इस भेद को संस्कृत आलोचना शास्त्र में रूपक कहते थे। जिसको रूपक और उपरूपक दो भागों में बाँटा गया है। रूपक के आचार्यों ने दस, और उपरूपक के अठारह भेद किये हैं जिनका सविस्तार वर्णन किसी अन्य स्थान पर किया जायेगा।

श्रव्य : जिसका आनन्द श्रवणेन्द्रिय के द्वारा प्राप्त किया जाये उसे श्रव्य कहते हैं। जैसे रामचरित मानस आदि। तात्त्विक दृष्टि से इसके अन्तर्गत पद्य-गद्य दोनों को लिया जा सकता है। वामन ने प्रथम माध्यम के आधार पर काव्य के दो भेद किये हैं। फिर विषय के आधार पर दो भेद किये हैं। वे दोनों भेद हैं गद्य और पद्य। वामन ने अपने प्रथम भेद के (अन्तर्गत) सम्भवतः नाटक

तथा गद्य के अन्य अंगों को माना है (उन्होंने इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं लिखा) और दूसरे भेद में नाटक को (पद्य के निबद्ध भेद के अन्तर्गत) के अन्तर गत। संदर्भ की दृष्टि से यह वर्गीकरण उचित होते हुए भी शैली की दृष्टि से अत्यन्त भ्रांत है। क्योंकि नाटक संदर्भ अवश्य है पर पद्य नहीं। गद्य में उपन्यास, नाटक आदि सभी संदर्भ है किन्तु पद्य में प्रबन्ध (वामन की भाषा में निबद्ध या संदर्भ) ही एक मात्र संदर्भ है। पद्य का मुक्तक भेद संदर्भ नहीं। इस प्रकार नाटक को गद्य संदर्भ के अन्तर्गत तो रखा जा सकता है और रखना भी चाहिये पर प्रबन्ध संदर्भ के अन्तर्गत नाटक की गणना भूल है।

भारतीय आचार्यों ने शैली के आधार पर काव्य के तीन भेद किये हैं गद्य, पद्य, चम्पु) वामन ने इन्हीं को माध्यम के आधार पर गद्य-पद्य दो भागों में बाँटा है। चम्पु की गणना के बारे में वे मौन हैं। इन तीन भेदों का विश्लेषण इस प्रकार है :—

गद्य : छन्दों से मुक्त रचना गद्य कही जाती है। जैसे नाटक, उपन्यास आदि।

पद्य : छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं।

चम्पु : गद्य पद्य मिश्रित रचना चम्पु या मिश्र कही जाती है। हिन्दी में जैसे गुप्तजी की यशोधरा।

वामन ने शैली के आधार पर गद्य के तीन भाग किये हैं :—

(१) वृत्त गन्धि, (२) चूर्ण और (३) उत्कलिका प्राय।

वृत्तगन्धि : जिसकी गद्य में पद्य अंश दिखाई दे।

चूर्ण : जिसमें छोटे-छोटे (अनाविद्ध) और ललित पद हों।

उत्कलिका प्राय : जिसमें आविद्ध (बड़े-बड़े समास) और उद्धत (कठोर) पद हों।

बन्ध के आधार पर संस्कृत में मुक्तक और प्रबंध दो भेद किये हैं।

मुक्तक : जो रचना स्वतन्त्र तथा आगे-पीछे से मुक्तक हो। जैसे गीत, मुक्तक कविता, सूर के पद बिहारी के दोहे। आदि।

प्रबंध : जिसका प्रत्येक पद आगे पीछे से सम्बन्धित हो उसे प्रबंध-काव्य कहते हैं। खंडकाव्य महाकाव्य आदि। आगे चलकर मुक्तक के भी अनेक भेद मिलते हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार है।

प्रबंध के भी मुख्य दो भेद मिलते हैं। (१) खण्डकाव्य (२) महाकाव्य।

खण्डकाव्य : जिसमें जीवन का एक भाग अथवा खण्ड प्रबंध रूप में वर्णित हो उसे खण्ड काव्य कहते हैं। जैसे गुप्तजी का जयव्रथवध।

महाकाव्य : जिसमें सम्पूर्ण जीवन की प्रबन्ध रूप में अभिव्यक्ति हो । जैसे तुलसी का राम चरितमानस और प्रसाद की कामायनी आदि ।

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के भेद विषय और विषयी—स्व और पर के आधार पर किये हैं, प्रथम विषय प्रधान दूसरा विषयी प्रधान । विषय अर्थात् समष्टि को लेकर लिखा गया काव्य विषय प्रधान (Objective) और निज या स्थानभूति परक विषय प्रधान (Subjective) माना जाता है । पद वर्गीकरण किसी सीमा तक युक्तियुक्त है । किन्तु साहित्य को आत्माभि व्यक्त मानने वाले के लिये यह वर्गीकरण अमान्य है । पं० रामचन्द्र शुक्ल भी इस वर्गीकरण को दोषपूर्ण मानते हैं । वे विषय गत को भी स्वानभूति से पृथक् नहीं मानते ।

काव्य के उक्त सभी भेद-भारतीय और पश्चिमीय-वाच्यार्थक हैं । इनका सम्बन्ध आत्मा से नहीं शरीर से है । यह वास्तव में काव्य का शरीरी वर्गीकरण है, आत्मिक नहीं । काव्य का आत्मिक वर्गीकरण विश्व में सर्वप्रथम ध्वनिवादियों ने ही किया । उन्होंने ध्वनि के आधार पर या चमत्कार के आधार काव्य के मुख्य तीन भेद किये हैं—(१) ध्वनि, (२) गुणीभूत व्यंग (३) चित्र काव्य । इन्हीं के स्थूल या बाहरी नाम उत्तम, माध्यम और अधम हैं ।

उत्तम : जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान और वाच्यार्थ गौण हो वहाँ उत्तम काव्य होता है ।

उदाहरण : गोपियें उद्धव के प्रति कहती हैं—

“सूर इयाम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुस्काने ।”

वाच्यार्थ : “हे उधो ! जब भगवान इयाम ने तुम्हें यहाँ भेजा क्या उस समय वे मुस्कराये थे ।”

व्यंगार्थ : “हे उधो ! यदि तुम्हें यहाँ भेजते समय मुस्कराये थे तो तुम्हें उन्होंने बुद्ध बनाया है ।”

यहाँ कवि का अभिप्राय वाच्यार्थ नहीं, व्यंगार्थ को प्रकट करना है । यहाँ व्यंगार्थ प्रधान है वाच्यार्थ गौण, अतः यहाँ उत्तम काव्य है ।

मध्यम : जहाँ वाच्यार्थ प्रधान व्यंगार्थ सहायक हो वही मध्यम काव्य होता है । (गुणीभूत व्यंग)

उदाहरण :

रघुवर बिरहानल तपे सह्य शैल के अन्त ।

सुख सों सोये शिशिर में कपि कोपे हनुमंत ॥

वाच्यार्थ : रामचन्द्र के विरह (सीता का विरह) की अग्नि से सह्य पर्वत की चोटियाँ तप रही थीं और उन पर सुखपूर्वक सोने वाले वानर हनुमान

पर कुपित हो गये ।

व्यंग्यार्थ : जब रामजी के भक्त हनुमान ने सीता का कुशल समाचार लाकर दिया तो राम की विरह अग्नि मंद पड़ गई और उससे तपने वाले सह्य-शैल भी ठंडे पड़ गये । उन पर सोने वाले वानरों को जब सर्दी लगी तो हनुमान जी पर कुपित हो गये कि उन्होंने कुशल समाचार क्यों लाकर दिया ।

यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिये आया है अतः यहाँ मध्यम काव्य है ।

अधम : जहाँ व्यंग्यार्थ का अभाव और वाच्यार्थ की किञ्चितमात्र सत्ता हो तथा शब्दों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाय वहाँ अधम काव्य होता है । शब्दलंकार में शब्दचित्र और अर्थालंकार में अर्थचित्र ।

उदाहरण :

कूलन में, केलिन में, कुञ्जन में,
व्यारिन में कलित कलीन विकसंत हैं ।

इसमें क क बार-बार प्रयोग करके शब्द चमत्कार उत्पन्न किया गया है अतः यह अधम काव्य है ।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों के भेदों प्रभेदों को देख कर पता चलता है कि उन्होंने काव्य के जिस दृष्टि से भी भेद किये हैं उसके अन्त तक गये हैं । चाहे वह वर्गीकरण शरीरी था या आत्मिक ।

महाकाव्य

महाकाव्य प्रबंधकाव्य का एक प्रमुख भेद है। भारतीय साहित्य में ही नहीं पाश्चात्य साहित्य में भी इस काव्य विद्या का महत्त्व सर्वाधिक रहा है। संस्कृत आलोचना शास्त्र में महाकाव्य का विवेचन सर्व प्रथम भामह में मिलता है। भामह के उपरान्त रुद्रट, दण्डी, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि अनेक आचार्यों ने महाकाव्य का विवेचन तथा विश्लेषण किया है। उनके विवेचन के आधार पर महाकाव्य के निम्न तत्व निश्चित होते हैं। जिनमें पहला तत्व है **मंगलाचरण**—

(१) महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण : दण्डी और विश्वनाथ आदि ने महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण को सर्वप्रथम माना है। दण्डी के अनुसार मंगलाचरण तीन प्रकार का हो सकता है—‘आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देश वापि तन्मुखम्’—अर्थात् महाकाव्य के आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार वस्तुनिर्देश रूप मंगलाचरण होना चाहिए।” विश्वनाथ ने भी पूर्णरूप से दण्डी का ही अनुकरण किया है। उन्होंने—“आदौ नमस्क्रियाभिवा वस्तु निर्देश एव वा” लिखकर दण्डी के ही नमस्कार और वस्तुनिर्देश को स्वीकार कर लिया है। कुछ एक में आरम्भ में खलनिन्दा तथा सज्जन कीर्तन को भी स्थान दिया है।

भारतीय आचार्यों द्वारा महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण स्वीकार करने के कई एक कारण हैं। सबसे पहला कारण यह है कि भारतीय कवि तथा आचार्य ईश्वरीय सत्ता में अटल विश्वास रखते हैं अतः कर्म का कर्ता उसे स्वीकार करते हैं। सो एक तो कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए, दूसरे इस कार्य का यश परमात्मा को देने के लिए। खलों की निन्दा तथा सज्जनों की प्रशंसा का अभिप्राय सामाजिक है। संस्कृत महाकाव्यों के आरम्भ में ईश्वर-स्तुति के रूप में मंगलाचरण सर्वत्र मिलता है। हिन्दी महाकाव्यों के आरम्भ में भी, परन्तु आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में मंगलाचरण का अभाव है। प्रसाद की ‘कामायनी’ को उदाहरण रूप में ले सकते हैं।

संस्कृत महाकाव्यों के आरम्भ में मंगलाचरण के होने का कारण ईश्वर

के प्रति आस्था है और आधुनिक महाकाव्य में इसके आभाव का कारण मंगलाचरण को अस्वाभाविक तथा अनावश्यक मानना है। विशुद्ध कला की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक प्रभाव के कारण भी ऐसा हुआ है। आधुनिक महाकाव्यों के आरम्भ में मंगलाचरण के कारण नास्तिकता में ढूँढना भ्रान्ति है। क्योंकि अभी तक ऐसा कोई महाकाव्यकार हिन्दी साहित्य में नहीं आया जो नास्तिक हो। प्रसादादि सभी ईश्वरी सत्ता में विश्वास रखते हैं।

कथावस्तु : संस्कृत आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होना चाहिए। महाकाव्य के प्रथम आचार्य भामह ने वृत्त की ऐतिहासिकता या अनैतिहासिकता का कोई उल्लेख नहीं किया। विश्वनाथ तथा दण्डी ने कथावस्तु—ऐतिहासिक तथा सदाश्रित मानी है। किन्तु रुद्रट ने उत्पाद्य (काल्पनिक) अनुत्पाद्य दोनों प्रकार की वस्तु महाकाव्य के लिए उपयुक्त मानी है। संस्कृत आचार्यों द्वारा ऐतिहासिक वस्तु को स्वीकार करने के कई कारण हैं।

ऐतिहासिक वृत्त को लेने से यह होता है कि एक तो कवि को पूर्व निमित्त वृत्त मिल जाता है जिससे कवि को नया वृत्त गढ़ने का परिश्रम नहीं करना पड़ता, (थोड़े-बहुत उलट-फेर को छोड़कर) दूसरे वस्तु के पूर्व प्रसिद्ध होने के कारण लोगों तक ऐसे महाकाव्य की पहुँच जल्दी हो जाती है। वस्तु के इतिहास प्रसिद्ध होने के अतिरिक्त उसमें प्रधान कथा के साथ अवान्तर कथाओं का नियोजन आवश्यक है। और वह सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित हो। सम्पूर्ण वस्तु में गठन (संवन्धिर्वाह) परमावश्यक है। **(भामह विश्वनाथ)**

प्राचीन तथा आधुनिक आचार्य (भारतीय-पाश्चात्य) गठन को वस्तु में सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। क्योंकि गठन के द्वारा वस्तु के काव्य-मौष्ठव तथा उसकी कलात्मिकता में वृद्धि होती है। अमंगठित वस्तु प्रभावशाली नहीं होती। वस्तु में गठन के उपरान्त मार्मिकता को विशेष स्थान मिला है। संस्कृत आचार्यों में इसका सबसे अधिक व्याख्यान आनन्दवर्धन में और आधुनिक हिन्दी विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। गठन और मार्मिकता में दोनों गुण कला की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं। नाटकीय मधियों का विधान भी इसी दृष्टि से माना है।

(३) **सर्ग :** महाकाव्य की कथावस्तु सर्गों में विभक्त होनी चाहिए। विश्वनाथ के अनुसार उसमें आठ सर्ग होने चाहिए और कुछ में आठ से लेकर ३० सर्गों तक का विधान माना है। महाकाव्य में आठ सर्ग से कम नहीं होने चाहिए। ऐसा विधान इसलिए माना है कि यदि आठ से कम सर्ग महाकाव्य में रखे जाएँगे तो महाकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण कठिन हो जाएगा। अतः

सम्पूर्ण जीवन के चित्रण के लिए कम-से-कम आठ सर्गों का होना आवश्यक है। किन्तु यदि कोई कवि आठ से कम सर्गों में सम्पूर्ण जीवन की व्यंजना करने में समर्थ होता है तो उसकी सफलता ही है, दोष नहीं।

वस्तु को सर्गों में बाँटने का अभिप्रायः सम्पूर्ण जीवन की वस्तु को संतुलित बनाना है।

(४) छन्दविधान : एक सर्ग में एक छन्द होना चाहिए और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन, उसमें अगले सर्ग की वस्तु की सूचना होनी चाहिए।

एक सर्ग में एक छन्द के विधान का अभिप्राय यही है कि एक छन्द के विधान से वस्तु में और भावों में गति बनी रहती है। जिससे एक और वस्तु का प्रभाव बढ़ता है दूसरे भावों की व्यंजना में अधिक तीव्रता आ जाती है। सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन से अभिप्राय यह है कि जब एक ही संगीत सुनता-सुनता मानव या पाठक मन ऊब जाता है तो उसके मन को चमत्कृत करने के लिए अन्त में छन्द (संगीत) परिवर्तन किया जाता है। अन्तिम छन्द में भावी सर्ग की सूचना का विधान पाठक की जिज्ञासा को अधिक उदीप्त करने के लिए किया गया। जिज्ञासा कथानक प्रधान काव्य अंग का एक महत्वपूर्ण गुण है। क्योंकि जिस काव्य रचना में जिज्ञासा नहीं होती उसका आधे से अधिक आनन्द वहीं समाप्त हो जाता है। जब जिज्ञासा समाप्त हो जाय तो काव्य के आगे प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सारांश में, छन्द महाकाव्य में संगीत के द्वारा रस उत्पन्न करता है, वस्तु प्रवाह में सहायक होता है। और काव्य को चिर स्थाई रूप प्रदान करता है।

(५) नायक : महाकाव्य का मुख्य पात्र नायक होता है। नायक में संस्कृत के आचार्यों के अनुसार निम्न गुण होने चाहिए—वीर, उच्च वंश का, क्षत्रिय, धीरोदात्त आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। (विश्वनाथ)

भारतीय आचार्यों की दृष्टि सदैव आदर्शवादी रही है। इसलिए वे काव्य में एक आदर्श नायक को ही महत्व देते हैं। जिससे जनता कोई-न-कोई शिक्षा अवश्य ग्रहण कर सके। महान नायक में महान गुण होते हैं अतः लोग उससे कुछ-न-कुछ अवश्य शिक्षा ग्रहण कर सकें। इस प्रकार एक तो जनता को शिक्षा देने के लिए आदर्श नायक को महत्व दिया है। दूसरे सभी वर्गों के लिए ग्राह्य बनाने के लिए। उच्च वर्ग के नायक के प्रति निम्न मध्य उत्तम सभी वर्गों को श्रद्धा हो सकती है और इस प्रकार वह काव्य अधिक जनता के लिए उपयोगी बन जाता है। यदि निम्न वर्ग से नायक लिया जाए, एक तो वह उच्चवर्ग की श्रद्धा का पात्र नहीं बन पाता दूसरे वह काव्य एक श्रेणी का काव्य रह जाता है। भारतीय ही नहीं

अरस्तु पाश्चात्य विद्वान भी आदर्श नायक को ही महत्व देते थे । किन्तु आधुनिक विद्वान सामान्य नायक को ही महत्व देते हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि आदर्श नायक की कल्पना अतिरंजित है क्योंकि ऐसे गुणों से युक्त जिसमें दोष कोई न हो—मानव का मिलना कठिन ही नहीं असंभव भी है । जब ऐसा आदर्श मानव मिलना कठिन है तो फिर उसकी कल्पना अस्वाभाविक है । अस्वाभाविकता के साथ-साथ उच्च वंश का व्यक्ति महाकाव्य का नायक बनने का अधिकारी भी नहीं क्योंकि वह जनता का प्रतिनिधि नहीं बन सकता और साहित्य का सम्बन्ध राजा से नहीं जनता से है । जयशंकर प्रसाद की कामायनी में आधुनिक प्रकार का नायक ही चित्रित हुआ है जो सामान्य मानव के समान गुण-दोषों से युक्त है ।

महाकाव्य में नायक के अतिरिक्त प्रति नायक भी होता है ।

उद्देश्य — धर्म अर्थ काम और मोक्ष : भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के प्रधानतया यही चार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — उद्देश्य माने हैं । महाकाव्य के प्रथम व्याख्याता भामह ने महत्, रुद्रट ने भी महत् और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, विश्वनाथ और दण्डी ने भी चतुर्वर्ग फल प्राप्ति में से एक को काव्य का उद्देश्य माना है । पाश्चात्य आचार्यों ने अर्थ और काम दो उद्देश्य ही माने हैं । पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि सामाजिक रही है इसलिए उन्होंने अर्थ काम दो को ही स्वीकार किया है । किन्तु भारतीय आचार्यों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण सदा सामाजिक तथा आध्यात्मिक रहा है । इसलिए उन्होंने अर्थ और काम के साथ धर्म और मोक्ष जोड़ दिये । इन चारों में अर्थ और काम की तो अत्यन्त सार्थकता है, धर्म को भी धारण करने के योग्य—अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है । किन्तु मोक्ष नाम का उद्देश्य किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं जान पड़ता । मोक्ष का सम्बन्ध परलोक से है और काव्य का सम्बन्ध लोक-जीवन से—जिसकी आचार्यों ने बार-बार घोषणा की है—इसलिए दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं । हाँ, यदि मोक्ष को मन की मुक्तावस्था स्वीकार कर लिया जाए तो यह सब से अधिक महत्वपूर्ण बन सकता है, फिर अर्थ और काम भी इसकी समता में निकृष्ट दिखाई देंगे ।

धर्म को उद्देश्य रूप में लेने का कारण एक तो हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसको ऊपर बता दिया है, दूसरे, धर्म को काव्य में स्थान देने का कारण सामाजिक भी है । भारतीय आचार्यों का विचार है कि यदि नायक धर्म को फल-प्राप्ति का माध्यम मानकर चलेगा एक तो वह अर्थ, काम को प्राप्त करते समय धर्म मर्यादा से काम लेगा जिससे समाज में भ्रष्टाचार नहीं फैलेगी दूसरे

धर्म सदैव विजयी होता है अतः नायक को फल प्राप्ति भी निश्चित हो जाएगी । जिससे पाठक के मन में जीवन के प्रति आशा की भावना उत्पन्न होगी । अतः सामाजिक उद्देश्य की स्वतः सिद्धि हो जाएगी ।

(७) रस : महाकाव्य में वीर, शृंगार और शान्त में एक रस की प्रधानता अन्य रस गौण होने चाहिए । (विश्वनाथ)

आज काव्य में रस की स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है । आनन्द वर्धन ने तो रस को प्रबंध काव्य का मुख्य तत्व माना है । पाश्चात्य आचार्य भी रस को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं । क्योंकि रस ही काव्य को इतिहास-पुराण आदि असाहित्यिक विधाओं से अलग करता है । यदि रस को काव्य से बाहर निकाल दिया जाय तो इतिहास और महाकाव्य में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा । अतः महाकाव्य में रस के बारे में कोई विवाद नहीं ।

अब जो पहला प्रश्न उठता है वह यह है कि महाकाव्य में वीर, शृंगार और शान्त रस ही प्रधान हों ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर संक्षेप में इतना ही है कि महाकाव्य का क्षेत्र व्यापक है अतः वीर, शृंगार तथा शान्त को छोड़कर सभी रसों का क्षेत्र अत्यन्त छोटा है । सम्पूर्ण महाकाव्य में किसी एक ही रस का निर्वाह असम्भव है, इसीलिए उनको गौण स्थान दिया गया है ।

इधर इन रसों के विपरीत (१) वीर शृंगार और शान्त रस अधिक व्यापक हैं, (२) और जीवन में उनकी अधिक प्रधानता है, (३) अधिक प्रभावशाली हैं । इन्हीं गुणों के कारण उनको महाकाव्य में प्रधानता दी गई है । किन्तु यदि कोई कवि इन तीनों रसों के अतिरिक्त किसी अन्य रस को प्रधानता देकर महाकाव्य का निर्माण करने में सफल हो जाता है तो यह उसकी महानता और विलक्षणता ही है ।

रस के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों का दृष्टिकोण निम्नान्त है । केवल रस के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि उसको, जिसके शमन-उदासीन-भाव हैं—जो समाजविरोधी है—क्यों स्थान दिया गया है । भारतीयों की ओर से तो यही है कि वे आध्यात्मिकता को जीवन का एक अंग मानते थे इसी भाव के अधीन उन्होंने शान्त रस को महाकाव्य में स्वीकार किया है । शान्त रस को मानने के पीछे भी यही भावना काम करती है । पर आज शान्त रस अव्यावहारिक, निकम्मा और समाज विरोधी माना जाता है और माना भी जाना चाहिए क्योंकि यह भाव धर्म तक सीमित है सामान्य व्यक्ति तक व्यापक नहीं ।

इस प्रकार शान्त रस को छोड़कर वीर शृंगार रस की महत्ता की स्थापना आचार्यों की सूक्ष्म बुद्धि की परिचायक है ।

(८) महाकाव्य में प्रकृति षट्ऋतु वर्णन, नगर शैल, समुद्र, चन्द्रोदय, सूर्योदय उद्यान, रसोत्सव मधुपान विवाह आदि का वर्णन होना चाहिए ।

उपरोक्त जिन बातों का उल्लेख हुआ है इन सबका भावात्मक जीवन से सम्बन्ध है अतः इनका उपयोग भी महाकाव्य को व्यापक सम्पूर्ण रसात्मक दृष्टि से ही महाकाव्य में माना है ।

प्रकृति एक तो काव्य में सौन्दर्य लाती है दूसरे भावों की व्यंजना में सहायक होती है । कवि प्रकृति के माध्यम से पात्रों की मनोदशाओं का वर्णन करने में सफल होता है ।

इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य का उल्लेख बड़ी सूक्ष्मता से किया है । उनके सिद्धान्त प्राचीन होते हुए भी आधुनिक प्रतीत होते हैं । दोनों में कोई अन्तर नहीं । यदि कोई अन्तर है, वह प्राचीन और आधुनिक दृष्टिकोण का ही अन्तर है । पुराने समय आचार्य व्यक्ति को महत्व देते थे और आज समाज का स्थान व्यक्ति के ऊपर है । इसी भिन्नता से दोनों कालों के आचार्यों के सिद्धान्तों में भिन्नता आ गई है ।

महाकाव्य का पाश्चात्य दृष्टिकोण

अरस्तु से लेकर आधुनिकतम पाश्चात्य विद्वानों के महाकाव्य-सम्बन्धी लक्षणों का जब गम्भीर अध्ययन करके देखते हैं तो उनके लक्षणों तथा भारतीय महाकाव्य के लक्षणों में दो-तीन तत्वों को छोड़कर कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। जो अन्तर दिखाई देता भी है वह भी आधुनिक विचारकों के सिद्धान्तों का है। अरस्तुकालीन अथवा आधुनिक युग से पूर्व पाश्चात्य विद्वानों के लक्षण पूर्णतया संस्कृत महाकाव्य के लक्षणों से मेल खाते हैं। यह संयोग स्वाभाविक है। अनुकरण के कारण नहीं।

नीचे हम उन्हीं दो एक लक्षणों को लेंगे, जो एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। जिनमें पहली भिन्नता है महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण के अस्तित्व की भिन्नता। भारतीय आचार्य महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण को महत्व देते थे किन्तु आधुनिक-पाश्चात्य विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। इस भिन्नता का कारण है भारतीयों का आस्थावाद और पाश्चात्यों के ऊपर वैज्ञानिक प्रभाव। यह अन्तर कला-सम्बन्धी नहीं, आस्था-सम्बन्धी है। आज हिन्दी महाकाव्य इस मंगलाचरण से शून्य होते जा रहे हैं। कामायनी इसका स्पष्ट प्रमाण है।

नायक : दूसरा अन्तर है नायक सम्बन्धी। भारतीय आचार्य नायक उच्च वंश का, राजा धीरोदात्त ही स्वीकार करते थे। प्राचीन पाश्चात्य आचार्य भी इसी विचार के पक्षपाती थे, किन्तु आधुनिक विद्वान् इस विचार को पूंजीवादी संस्कृति का सूचक मानते हैं। इस अन्तर का कारण सर्वप्रथम युग भेद है। उस युग की और आज के युग की धारणाओं में अन्तर है भारतीय उच्च वंश का नायक या सर्वगुण सम्पन्न इसलिए चुनते थे कि वे आदर्श नायक प्रस्तुत करके लोगों को उसी नायक के समान महान देखना चाहते थे, महान बनाना चाहते थे। इनका विचार था कि यदि आदर्श व्यक्ति को नायक बनाया जाये तो जनता अवश्य कुछ-न-कुछ ग्रहण कर सकेगी। निम्न वर्ग का नायक उच्चगुणों से रहित होगा और उसमें अवगुणों का प्राबल्य होगा—ऐसी अवस्था में एक तो जनता उससे कुछ ग्रहण नहीं कर सकेगी। दूसरे निम्न वर्ग या कोटि के नायक

से सम्बन्धित रचना को उच्च वर्ग कभी अपनायेगा नहीं। जिसका परिणाम यह होगा कि वह रचना सीमित जनवर्ग की रचना बन कर रह जायेगी।

पाश्चात्य लोगों का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। विशेषकर जब से मार्क्सवादी विचारधारा का जन्म हुआ है, काव्य का सम्बन्ध उच्च वर्ग से टूटकर निम्न वर्ग से अर्थात् बहुमत से जुड़ गया है। आज का विचारक साहित्य को जनजीवन की अभिव्यक्ति मानता है और जनजीवन में निम्न और मध्य वर्ग की प्रधानता है। इसलिए वह किसी काव्य-रचना का नायक निम्न वर्ग से या मध्य वर्ग से सम्बन्धित देखना चाहता है। आज समस्त विश्व-साहित्य में यही मत मान्य है। आज हमारी मान्यताये टूट चुकी हैं। पुराने विचार, आदर्श और सिद्धान्त समय के आघातों से जर्जर हो चुके हैं। आज हमें वे सब मत तथा विचार खोखले तथा सारहीन दिखाई देने हैं जिनका सम्बन्ध जनता से न होकर उच्च वर्ग से है।

इन पुरातन मान्यताओं के बिखरने का कारण मुख्य रूप से विज्ञान है, जिसने आज के मानव का तीसरा नेत्र (ज्ञान चक्षु) खोल दिया है। आज वह अन्धेरे में हाथ नहीं मारता। आज वह यथार्थ सत्य का पुजारी है। इसका दूसरा कारण उच्च वर्ग के अत्याचारों में भी ढूँढा जा सकता है। उच्च वर्ग के अत्याचारों ने जनमानस को विक्षुब्ध कर दिया है। अपने प्रति जन आस्था तथा श्रद्धा को स्वयं खंडित कर दिया है।

इन सब बातों के मेल से जो बात घटित हुई वह है व्यक्तिवाद से हटकर समष्टिवाद को मान्यता मिली। इसका परिणाम यह निकला कि सारा साहित्य, भूखों, नंगों, वेश्याओं, शराबियों तथा पीड़ितों से भर गया है।

आज इन्हीं के प्रभाव के कारण महाकाव्य का नायक भी राजा न रहकर साधारण व्यक्ति बन गया है। जिसमें मनुष्य के पुण्य-पाप, गुण-अवगुण, सच्च-भूठ, सब हैं। कामायनी का नायक इसी नवीन प्रभाव की सृष्टि है। साकेत का राम भगवान् से नर बन गया है।

दुखान्त : भारतीय महाकाव्य का अन्त सुखान्त तथा पश्चिमीय दुखान्त मानते हैं। पाश्चात्य साहित्य में दुखान्त मत की मान्यता अरस्तु के युग में ही स्वीकृत हो गई थी, किन्तु उस समय दुखान्त को प्राथमिकता देने का कारण साहित्यिक प्रभाव की उपलब्धि था। आज दुखान्त को साहित्य में अनिवार्य स्थान देने का कारण सामाजिक है। आज के विचारकों का कथन है कि साहित्य का सम्बन्ध जनजीवन से है। जनजीवन का अन्त सदा दुखान्त होता है अतः यथार्थवादी तथा स्वाभाविकता की दृष्टि से महाकाव्य का (समस्त साहित्य का)

दुखान्त होना अनिवार्य है। मनुष्य जीवन में अधिकांश असफल रहता है ऐसी स्थिति में उसे साहित्य में सफल दिखाना कितना अयथार्थ है। इस कारण महाकाव्य का अन्त भी दुखान्त होना चाहिये।

इसके साथ वे दुखान्त रचना को सुखान्त की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली भी मानते हैं। करुणा का प्रभाव अधिक मानव मन पर पड़ता है। ऐसा महाकाव्य साहित्य की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली भी बन जाता है।

पाश्चात्य आचार्यों का यह विचार यथार्थवाद तथा साहित्यिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भारतीय आचार्य दुखान्त के विरोधी तो कभी नहीं रहे किन्तु वे जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिये काव्य के बीच में दुखान्त रूप दिखाते हुए भी अन्त सुखान्त ही दिखाते थे, इन्होंने यथार्थ की अपेक्षा लोकमंगल को प्रथम स्थान दिया है।

दोनों की मान्यतायें अपने-अपने काल की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

रस सम्प्रदाय

भारतीय आलोचना शास्त्र में रस सिद्धान्त की महत्ता निर्विवाद सिद्ध है। रस, संस्कृत समीक्षा शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। भारत के लोग ही नहीं पश्चिमीय लोग भी आनन्दानुभूति को काव्य का मुख्य तत्त्व मानते हैं।

रस का मूल भाव है। मानव हृदय भावों की जन्मभूमि है। हमारे हृदय में छायाचित्रों के समान सहस्रों भाव समय-समय पर उद्बुद्ध होते रहते हैं। भारतीय आचार्यों ने भावों के दो मूल कारण माने हैं, एक पूर्व जन्म के संस्कार दूसरे लौकिक जीवन या व्यावहारिक आचरण। ऊपर के दोनों कारणों का यदि हम तात्त्विक विवेचन करके देखते हैं तो दोनों कारण अप्राकृतिक से लगते हैं। क्योंकि यदि इन्हें पूर्व जन्म के संस्कार मान लें तो फिर हजारों, लाखों, करोड़ों हृदय पत्थर भी होने चाहिए, सभी पर भावोत्पादक संस्कार पड़े हों—अस्वाभाविक है। फिर आज के विज्ञान के युग में, मनोविज्ञान के युग में भावों को पूर्वजन्म के संस्कार-रूप में मानना कितना हास्यास्पद है। पूर्वजन्म की बात यदि घड़ी-भर के लिये मान भी लें तो भी मनोविज्ञान तो इस कारण को कभी स्वीकार नहीं करेगा। लौकिक जीवन या आचरण वाली बात भी कारण कभी नहीं कही जा सकती। स्पष्ट शब्दावली में मूल स्रोत नहीं कही जा सकती। व्यावहारिक आचरण भाव की उत्पत्ति का कारण अवश्य कहा जा सकता है। सारांश यह कि भावों की जन्मभूमि हृदय है। भौतिक दृष्टि से—हृदय नाम की कोई वस्तु है या नहीं यह बात भिन्न है। हृदय-खंड मांस का एक टुकड़ा है यह बात भी मानी जा सकती है किन्तु इस बात को भी झुठलाया नहीं जा सकता कि मानव-मन या हृदय भावों का जन्मस्थान है।

हृदय से उत्पन्न होने वाले ये भाव व्यवहार-रूप में उत्पन्न होते हैं तात्त्विक दृष्टि से वे हृदय में निवास करते हैं और हृदय में सोये रहते हैं। उस समय भाव सुषुप्त भाव की संज्ञा से पुकारा जाता हो और जब ये कारण से हृदय में जागृत हो जाते हैं तब ये स्थायी भाव के नाम से पुकारे जाते हैं। विश्वनाथ की परिभाषा में—निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम प्रक्रिया—

अर्थात् निर्विकार चित्त में उत्पन्न होने वाली प्रथम क्रिया को भाव कहते हैं। इससे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि भाव की उत्पत्ति निर्विकार हृदय में ही होती है। विकृत हृदय से शुद्ध भाव का जन्म नहीं होता। अतः भावों का जन्म निर्विकार चित्त से ही होता है। ये संख्या में नौ हैं :

- | | |
|-------------------|-------------------|
| १. रति, (प्रेम) । | ६. भय । |
| २. हास । | ७. घृणा । |
| ३. शोक । | ८. विस्मय । |
| ४. क्रोध । | ९. निर्वेद (शम) । |
| ५. उत्साह । | |

कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को दशम और कुछ भक्ति को ग्यारहवाँ भाव मानने लगे हैं। भक्ति का अन्तर्भाव तो रति तथा निर्वेद में हो जाता है। भक्ति का स्वरूप जैसा होगा भक्ति उसी भाव में अन्तर्निहित हो जाएगी। जैसे तुलसीदास जी भक्ति शान्त रस में अन्तर्भूत हो गई। सूर की भक्ति रति-शृंगार में या वत्सल में मिल गई। इसका कारण यही है कि भक्ति अवलम्बन और आश्रय रति भाव से आलम्बन और आश्रय से भिन्न रूप नहीं धारण कर सकी इसीलिये भक्ति, रति, शृंगार से पृथक् अपने-आप को नहीं कर सकी।

कुछ भी हो दस स्थायी भाव तो आज पूर्णतया मान्य हो गये हैं।

यही स्थायी भाव रस रूप में परिणत होते हैं। इस विद्वान्त का मूल-सूत्र भरत का प्रसिद्ध सूत्र है—“विभावानुभाव-व्यभिचारी-संयोगात् रस निष्पत्तिः” अर्थात् विभाव अनुभाव संचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है।

इस सिद्धान्त को विश्वनाथ ने विस्तार के साथ इस प्रकार लिखा है :

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचरिणस्तथा ।

रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावसचेवसाभ् ॥

अर्थात् विभाव अनुभाव तथा संचारी भावों से व्यक्त हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस कहलाता है।

जैसे दूध को यदि खटाई का जाग लगा दिया जाये तो दूध दधि रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार दूध रूप रति आदि—स्थायी भाव खटाई रूप विभाव अनुभाव और संचारी भावों के जाग से रस रूप में परिणत हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाव रस की प्रथम अवस्था या मूल तत्व हैं जिनसे रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार रस सामग्री में मुख्य निम्न अंग हैं—(१) स्थायी, (२) विभाव, (३) अनुभाव, (४) संचारी भाव।

स्थायी भाव के सम्बन्ध में पीछे लिखा जा चुका हो। अब पहला विभाव है।

विभाव का अर्थ है रस को विशेष रूप से उत्पन्न करने वाला भाव। अर्थात् स्थायी भाव की उत्पत्ति का कारण हेतु या निमित्त। जिस कारण या निमित्त से स्थायी भाव उत्पन्न हो वही विभाव है। कारण दो प्रकार के होते हैं : (१) आलम्बन (२) और उद्दीपन।

आलम्बन का अर्थ है सहारा। जिसके सहारे या कारण हेतु निमित्त से रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न होते हैं उन्हें आलम्बन कहते हैं। जैसे 'अभि-ज्ञान शकुन्तलम्' में दुष्यन्त के लिए शकुन्तला आलम्बन है। क्योंकि दुष्यन्त के मन में शकुन्तला को देखकर प्रेम (रति) भाव उत्पन्न हुआ है।

उद्दीपन विभाव : उत्पन्न रति आदि भाव को उद्दीपित करने वाले कारण उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। शकुन्तला की चेष्टाएँ, अमर के साथ इधर-उधर भागना, सखियों के साथ विश्रम्भालाप करना, उसका सौन्दर्य, आसपास का वातावरण आदि सब उद्दीपन हैं। इन्हीं सब से दुष्यन्त के मन में रति अधिक उद्दीपित हो जाती है।

अनुभाव : आश्रय के मन में रति आदि स्थायी भाव के जागृत और उद्दीपित हो जाने के बाद जो आश्रय की चेष्टाएँ होती हैं वे स्थायीभाव कहलाती हैं। जैसे जब दुष्यन्त में शकुन्तला को देखकर रति उत्पन्न और उद्दीपित होती है तो उस समय की दुष्यन्त की चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं। दुष्यन्त के मन में कभी चिन्ता उत्पन्न होती है कभी-कभी हर्ष, कभी आशा उत्पन्न होती है। यही भाव अनुभाव हैं। ये भाव स्थायी भाव के बाद उत्पन्न होते हैं। मैद्धान्तिक शब्दावली में आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव कही जाती हैं।

अनुभाव दो प्रकार के हैं :

(१) कायिक।

(२) सात्त्विक।

(१) **कायिक** : इनको यत्नज भी कहते हैं। ये आश्रय के अधीन होते हैं। इनका सम्बन्ध अंगों के साथ है। जैसे हाथ पटकना, सकेत करना आदि।

(२) **सात्त्विक अनुभाव** : ये अयत्नज कहे जाते हैं। ये सत्व से उत्पन्न होकर अंगों पर अंकित हो जाते हैं। इस प्रकार ये अन्तःकरण के भाव हैं। स्वयं बिना यत्न के उत्पन्न होने के कारण ही ये अयत्नज कहे जाते हैं।

इनकी संख्या आठ हैं :

१. स्वेद।

५. कम्प।

२. स्तम्भ।

६. विवर्णता।

३. रोमांच ।

७. अश्रु ।

४. स्वरभंग ।

८. मूर्च्छा ।

(१) स्वेद : (पसीना आना) क्रोध, भय, दुःख अनुराग, श्रम आदि से इसकी उत्पत्ति होती है ।

(२) स्तंभ : (अंगों की अकड़न) हर्ष, भय, लज्जा, विस्मय आदि से यह उत्पन्न होता है । इससे अंगों की गति रुद्ध हो जाती है ।

(३) रोमांच : (रोंगटे खड़े होना) यह हर्ष, श्रम शीत, क्रोध से उत्पन्न होता है ।

(४) स्वर भंग : (स्वर का टूटना या गदगद होना) यह हर्ष, भय, क्रोध, मद से होता है ।

(५) कम्प : (कांपना) क्रोध, आनन्द, शीत तथा भय आदि से यह उत्पन्न होता है ।

(६) विवर्णता : (मुख का रंग बदल जाना) पीला पड़ जाने, क्रोध, भय, काम, शीत, तापादि से इसका उद्भव होता है ।

(७) अश्रु : (आँसू बहाना) आनन्द, शोक, भय आदि से इसका जन्म होता है ।

(८) मूर्च्छा : (संज्ञाहीन होना) काम, मोह,, मद आदि से यह उत्पन्न होती है ।

संचारीभाव : ये स्थायी भाव के साथ उत्पन्न होने वाले क्षणिक मनो-विकार है । ये मन में कभी भी स्थायी रूप धारण नहीं करते, वरन् क्षण-क्षण के बाद विचरते रहते हैं । इसीलिए इनका नाम संचारी भाव पड़ा है । इनको व्यभिचारी भी कहते हैं । क्योंकि ये व्यभिचारी व्यक्ति के समान स्थिर रूप धारण नहीं करते । ये असंख्य हैं फिर भी आचार्यों ने ३३ संख्या मानी हैं ।

- | | | | |
|----------------|--------------|---------------|------------------|
| (१) निर्वेद, | (२) ग्लानि, | (३) मद, | (४) मोह, |
| (५) विषाद, | (६) शंका, | (७) श्रम, | (८) धृति, |
| (९) जड़ता, | (१०) हर्ष, | (११) दैत्य, | (१२) उग्रता |
| (१३) चिन्ता, | (१४) त्रास, | (१५) ईर्ष्या, | (१६) श्रमर्ष, |
| (१७) गर्व, | (१८) स्मृति, | (१९) मरण, | (२०) सुप्त, |
| (२१) निद्रा, | (२२) विबोध, | (२३) क्रीड़ा, | (२४) अपलाप, |
| (२५) मति, | (२६) आलस्य, | (२७) आवेग, | (२८) वितर्क, |
| (२९) अवहिस्था, | (३०) व्याधि, | (३१) उन्माद, | (३२) श्रोतुमक्य, |
| (३३) चापल । | | | |

ऊपर रस सामग्री का विवेचन किया गया है। इसी रस सामग्री के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने पर रस की उत्पत्ति होती है तब उपरोक्त रति आदि स्थायी भाव निम्न रस नामों से पुकारे जाते हैं।

स्थायीभाव	रस
१. रति (प्रेम)	शृंगार ।
२. हास	हास्य ।
३. शोक	करुणा ।
४. क्रोध	रोद्र ।
५. उत्साह	वीर ।
६. भय	भयानक ।
७. जुगुप्सा (घृणा)	बीभत्स ।
८. विस्मय	अद्भुत ।
९. निर्वेद	शान्त ।
१०. वात्सल्य	वत्सल ।

नीचे हम इन दस रसों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

१. शृंगार रस

स्थायीभाव : रति—नायक नायिका में परस्पर प्रीति ।

आलम्बन : नायक-नायिका । नायकविषयक रति के लिए नायिका और नायिकाविषयक रति के लिए नायक ।

उद्दीपन : चन्द्र, चाँदनी, वन, उपवन, प्रणय, सुगंधित समीर, वसंत ऋतु आदि, एकान्त आदि ।

अनुभाव : अनुरागपूर्व परस्पर देखना, कटाक्ष करना, संकेत आदि ।

व्यभिचारी : उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी २९ संचारीभाव इसमें आते हैं ।

शृङ्गार के दो भेद हैं—संभोग शृङ्गार, विप्रयोग शृङ्गार । प्रेमी नायक तथा नायिका के परस्पर मिलन शृङ्गार को संभोग शृङ्गार और प्रेम की तीव्र अवस्था में दोनों का मिलन न हो सकने की अवस्था को विप्रयोग शृङ्गार कहते हैं ।

एक तीव्र भेद आयोग है। यह मिलन से पूर्व की अवस्था को कहते हैं ।

संयोग शृंगार :

एक पल मेरे प्रिया के दृग पालक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
हड़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था ।

इसमें रति स्थायी भाव है, नायिका आलम्बन, नायक आश्रय । पलकों का उठना उद्दीपन । पुलक संचारी भाव है ।

वियोग शृंगार :

नैननि को तरसंये कहा लो
कहा लों हियो विरहागि में तंये ।

एक घरी न कहूँ कल पंये, कहा लगी प्राननि का कलपंये ।
आवे यही अब जी में विचार, सखी चलि सोतिहूँ के गृह जंये ।
मान घटे ते कहा घटि है जुपे प्रानपियारे को देखन पंये ॥

यहाँ रति स्थायी भाव है । नायक आलम्बन विभाव है नैनन को तरसान, घड़ी को कल न मिलना आदि अनुभाव है । देखने की उन्मुक्तता तथा उद्वेग संचारी भाव ।

२. हास्य रस

विकृत आकार, वेषभूषा, भाषा, चेष्टा आदि से हास्यरस उत्पन्न होता है ।

स्थायीभाव : हास ।

आलम्बन : विकृत वेषवाला व्यवित ।

उद्दीपन : मुख फँलना, अंगों की विकृत चेष्टाएँ ।

संचारी : निद्रा, आलस्य, चपलता, अवहित्था आदि ।

उदाहरण :

गोपी गोपाल कों बालिका कं वृषभानु के मोन सुभाई गई ।
उजियारे विलोक विलोकि तहा हरि राधिका पास लिवाई गई ।
उठी हेली मिलो या सहेली सों यो कहि कंठ से कंठ लगाई गई ।
भरि भेटत अंक निसंक उन्हें वे मयंक मुखी मुस्कराई गई ।

यहाँ कृष्ण अवलम्बन, वेषभूषा उद्दीपन, मुस्कराना अनुभाव, हर्ष संचारी भाव है ।

आचार्यों ने हास्य के छः भेद माने हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३)

विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित, (६) अतिहसित । प्रथम दो प्रकार का हास्य उत्तम प्रकृति वालों का हास्य है ।

३. करुण रस

किसी प्रिय व्यक्ति या वस्तु के नष्ट होने से जो मन को दुख होता है वही करुण रस कहलाता है ।

सामग्री :

स्थायी भाव : शोक ।

आलम्बन : मृतबन्धु, प्रियवियोग, दीन व्यक्ति ।

उद्दीपन : श्मशान, दाहकर्म, गुणों का श्रवण आदि ।

अनुभाव : रोना, सिसकियां लेना आदि ।

संचारी भाव : अपस्मार विषाद, निर्वेद, ग्लानि आदि ।

मेरे हृदय के हर्ष हा ! अभिमन्यु अब तू है कहाँ,
हृग खोलकर बेटा ! तनिक तो देख हम सबको यहाँ,
व्याकुल तनिक भी देखकर तू धैर्य देता था मुझे
पर आज मेरे पुत्र प्यारे ! हो गया है क्या तुझे ।
धातु सुभद्रा को समझकर माँ मुझे था मानता
पर आज तू ऐसा दुष्टा मानो न था पहचानता ।

यहाँ मृत अभिमन्यु आलम्बन है उसका शव उद्दीपन, रोना-धोना, अनुभाव, स्मरण आवेग आदि संचारी भाव हैं ।

४. रौद्र रस

शत्रु द्वारा किये गए अनिष्ट से उत्पन्न क्रोध का वर्णन रौद्ररस कहलाता है ।

सामग्री :

स्थायीभाव : क्रोध ।

आलम्बन विभाव : शत्रु या अपराधी ।

उद्दीपन : अपकार मत्सर आदि ।

संचारी : अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, वेग आदि ।

कब लौं अभाग तू बनाई है अभागो मोहि
जो न भागि है तो तोको पोरुख दिखँहों मैं ।

कढ़ि हौं कचूमर पकरि मुँह लाल कंठो
चाल चलि है तो बाल-बाल बीनि लंहीं मैं ।
एरे कूट मानि है कही ना हरिऔध की तो
धूम माहि तो को चूर-चूर कं मिलंहीं मैं ।
पसुता दिखं है तो पिसान करि देंहो पीसि
मसक समान मूढ़ तोको भीच दे देंहो मैं ।

शत्रु आलम्बन, भागना उद्दीपन, कचूमर निकालना क्रोध-भरे शब्द अनुभाव, गर्व, अमर्ष आदि संचारी भाव है ।

५. वीर रस

शत्रु को देखकर जो वीर के हृदय में उत्साह होता है वही वर्णित होकर वीररस में परिणत हो जाता है ।

सामग्री :

स्थायी भाव : उत्साह ।

आलम्बन : शत्रु विरोधी ।

उद्दीपन : शत्रु का प्रताप युद्ध का बाजा, उसकी चेष्टाएँ ।

अनुभाव : हथियार का पकड़ना, नेत्र लाल, दोनों रोंगटे खड़े होना आदि ।

संचारी : मति, गर्व, धृति, अमर्ष ।

आचार्य ने वीर रस के चार भेद—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, युद्ध-वीर माने हैं । मम्मट ने युद्धवीर को ही वीर रस माना है । मम्मट का मत अधिक पूर्ण है ।

बड़े-बड़े बीरन को पकरि पछारि देत
भारी-भारी भीरन हनत पलभर मैं ।
रोम-रोम छिदे छनौ छोरत उछाई नाहीं
छत लगे हाथी को उछारत अधर मैं
हरिऔध करि के धरा को शरधारामयी
मुंडमाला देत मुंडमालिका के कर मैं ।

६. भयानक रस

भयोत्पादक वस्तु वर्णन से भयानक रस की उत्पत्ति होती है । इसकी सामग्री निम्नलिखित है ।

सामग्री :

स्थायीभाव : भय ।

प्रालम्बन : शेर, चीता आदि, शून्य स्थान, श्मशान आदि ।

उद्दीपन : भयोत्पादक जीव की चेष्टाएँ, गर्जना आदि ।

अनुभाव : स्वेद, कम्प, रोमांच, रोना, चिल्लाना आदि ।

संचारी भाव : चिन्ता, मूर्च्छा, त्राम आदि ।

उदाहरण :

एक ओर अजगर लल्लि, एक ओर मृगराय ।

विकल बटोही बीच ही परयो मूर्छा लाय ॥

प्रालम्बन, अजगर और शेर; उद्दीपन उनकी चेष्टाएँ विकलता, मूर्छा आदि अनुभाव; चिन्ता, त्रास, संचारी भाव ।

७. बीभत्स रस

मैली, कुचैली, दुर्गंधपूर्ण वस्तु को देखकर जो घृणा उत्पन्न होती है वही पुष्ट होकर बीभत्स रस कहलाती है ।

सामग्री :

स्थायी भाव : घृणा ।

प्रालम्बन : दुर्गंध, मांस, रक्त आदि ।

उद्दीपन : रक्त, मांस का सड़ना, कीड़े पड़ना, पशुओं या पक्षियों का नोचना आदि ।

अनुभाव : नाक को टेढ़ा करना, सिकोड़ना, थूकना, रोमांच आदि ।

संचारी भाव : आवेग, शंका, मोह, व्याधि आदि ।

उदाहरण :

तिर पं बैठो काग आखि दोउ खात निकारत ।

खोचत चामहि स्यार अति आनन्द उर धारत ॥

बहुचौल्ह नोचि लेजात तुच, मोद मद्या सबको दियो ।

जनु ब्रह्म-भोज जिजमान कोउ, आ भिखारिन कह दियो ॥

८. अद्भुत रस

आश्चर्योत्पादक रस अद्भुत रस कहा जाता है ।

सामग्री :

स्थायी भाव : विस्मय ।

आलम्बन : आश्चर्योत्पादक वस्तु या व्यक्ति ।

उद्दीपन : अलौकिक वस्तु का देखना, सुनाना आदि ।

अनुभाव : आँसू आना, काँपना आदि ।

संचारी भाव : हर्ष आवेग, धृति आदि ।

उदाहरण :

चंसोई राज समाज बनो गज,
 बाजि घने मन संभ्रम छायो
 कंधों परोकहूँ मारग भूलि
 कि फेरि कै मैं अब द्वारिका आयी ।
 भौन विलोकबे को मनलोचन,
 सींचत ही सब गाँव मझाओ
 पूछत पांडे फिरे सब सों पर
 भोंपरी को कहूँ खोज न पायो ॥

६. शान्त रस

स्थायी भाव : शम या निर्वेद । (सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य भाव का जन्म ।)

आलम्बन : परमात्मा का चिन्तन, संसार की अनित्यता आदि ।

उद्दीपन : सत्संग, पुण्य आश्रम, तीर्थस्थल आदि ।

अनुभाव : रारीर भर में रोमांच तथा गद्गद होना ।

संचारी : मति, हर्ष, स्मृति आदि ।

उदाहरण :

भागीरथी जलपान करौं,
 अरु नाम द्वै राम को लेत सदा हौं ।
 मोको न लेनो देनो कछु,
 कलि ! भूलि न राखरी ओर चित हौं ॥
 जान के जोरि करौ परनाम,
 तुम्हें पछतै हौं पं में न मित हौं ।
 बरसता ज्यों उँगित्यो उरगारि,
 हौं त्यों ही तिहारे हिये चलैहौं ।

१०. वत्सल रस

बच्चों के प्रति जो प्रेमभाव होता है वही विकसित होकर वत्सल रस में परिणत हो जाता है।

स्थायी भाव : वात्सल्य ।

आलम्बन : शिशु ।

उद्दीपन : बच्चे की चेष्टाएँ, चूमना, गोद लेना आदि ।

अनुभाव : रोमांच आदि ।

संचारी : हर्ष, आवेग, उन्माद, स्मृति आदि ।

उदाहरण :

यशोदा हरि पालने भुलावै ।

हलरावै दुलरावै मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै ।

मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै ।

कबहूँ पलक हरि मूँद लेत है कबहूँ अधर फरकावै ।

सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै ।

यहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरै गावै ।

जो सुख सार अमर मुनिदुर्लभ सो नन्दभमिनी पावै ।

रीति सिद्धान्त

संस्कृत समीक्षा शास्त्र में रीति एक सर्वमान्य काव्य सिद्धान्त माना जाता है। इसके प्रबल संस्थापक आचार्य वामन हैं। रीति यद्यपि वामन की मौलिक उद्भावना नहीं। वामन से पूर्व रीति की काव्यशास्त्र में मान्यता थी। रीति का विवेचन तथा विश्लेषण भी मिलता है। किन्तु उसको सिद्धान्त-रूप देने का प्रयत्न सर्वप्रथम वामन ने किया। इस प्रकार इसके आचार्य वामन ही हैं और उन्होंने ही सर्व रीति की परिभाषा, उसके स्वरूप का विवेचन तथा विश्लेषण किया। वामन के उपरान्त और अनेक आचार्यों ने रीति सिद्धान्त पर लिखा किन्तु जो रीति-सम्बन्धी सिद्धान्त वामन ने स्थिर किये वही सिद्धान्त, परिभाषा आज भी मान्य है। वामन के बाद रीति को इतने व्यापक रूप में लेकर चलने वाला कोई नहीं हुआ या यूँ कहना चाहिये कि वामन के बाद का आचार्य रीति सिद्धान्त में और कोई नई मौलिक उद्भावना नहीं कर सका। वामन की मान्यताएँ ही मान्य रहीं। आज भी मान्य हैं। नीचे हम रीति शब्द के धातु और परिभाषा आदि का विवेचन करेंगे।

रीति शब्द का धातु तथा प्रचलित अर्थ : रीति शब्द का प्रथम प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने किया। रीति शब्द संस्कृत की 'रीङ्' धातु से बना है जिसका धातु या व्युत्पत्ति अर्थ है गति या प्रस्थान। इसका प्रचलित अर्थ है पद्धति विधि प्रणाली और शैली आदि, मार्ग शब्द भी रीति अर्थ का द्योतक है। काव्यशास्त्र में रीति शब्द ही अधिक मान्य रहा। मार्ग शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु उसका प्रचलन अपने वर्तमान को पार नहीं कर सका, आज उसका रीति अर्थ में प्रयोग नहीं होता। रीति शब्द आज तक भारतीय भाषाओं में ज्यों-का-त्यों मान्य और प्रचलित है। पश्चिमीय काव्य शब्दावली में आज साहित्य शास्त्र में रीति शब्द का स्थान शैली ने लिया है। अद्यतन युग में शिल्प शब्द भी रीति के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा है। शिल्प शब्द यद्यपि रीति की अपेक्षा अधिक व्यापक है किन्तु इससे बोध रीति का ही होता है।

शिल्प शब्द का प्रयोग : मनुष्य की शिल्पविधान की रुचि का द्योतक

है। इस प्रकार रीति शब्द मार्ग, विधि, गति, पद्धति, प्रणाली, शैली और शिल्प अनेक अर्थों का द्योतक है।

रीति की परिभाषा : रीति की परिभाषा सर्वप्रथम हमें वामन में मिलती है। वामन से पूर्व इसकी परिभाषा किसी ने नहीं की। वामन के अनुसार रीति की परिभाषा है। **विशिष्टा पद रचना रीति :**

अर्थात् विशिष्ट पदरचना रीति है। विशिष्ट का अर्थ है 'विशेषो गुणात्मा'। काव्य के शोभाकारक धर्म गुण हैं। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ। काव्य शोभाकारक पदरचना को रीति कहते हैं।

वामन के उपरान्त आनन्दवर्धन ने रीति को संघटना कहा है। पद-रचना और संघटना में कोई विशेष अन्तर नहीं। दोनों एक ही अर्थ के द्योतक हैं। आनन्द वर्धन की परिभाषा है सम्यक् पद रचना का नाम संघटना अथवा रीति है। यह परिभाषा वामन की परिभाषा से भिन्न नहीं। एक ही परिभाषा है। शब्दावली भिन्न है, पर उस शब्दावली का अर्थ एक है।

भोज की परिभाषा इस प्रकार है :

वैदभीदि कृतः पंथा काव्ये मार्गा इतिस्मृताः।

रीड् गताविति धातोस्ता व्युत्पत्त्या रीति रुच्यते ॥

अर्थात् वैदभीदि पंथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं। रीड् धातु से उत्पन्न होने के कारण रीति कही जाती है। इस प्रकार अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं।

रीति का स्वरूप : मम्मट के अनुसार रीति नियत वर्ण-व्यापार है। अर्थात् वर्ण चयन ही रीति है। मम्मट समास को रीति नहीं मानते।

इसके विपरीत विश्वनाथ वर्ण-व्यापार के साथ-साथ शब्दगुम्फ और समास पदावली को रीति के अन्तरगत मानते हैं।

इस प्रकार संस्कृत विद्वानों ने व ' गुम्फ, शब्द गुम्फ और समस्त पद गुम्फ को ही रीति माना है। एक शब्द में विशिष्ट पद रचना, शब्द रचना का नाम रीति है।

रीति के भेद

रीति के भेद प्रधानतया तीन माने गये हैं, वैदभी, गौड़ी, पांचाली।

वैदभी : कोमल, मधुर, पदरचना रीति वैदभी कही जाती है। इसकी पदरचना को पढ़कर पाठक का हृदय मोम के समान पिघल जायगा और हृदय में माधुर्य गुण का संचार होने लग जायगा।

गौड़ी : ओजगुण युक्त जो हमारे हृदय में ओज का संचार कर दे वह

रीति गीड़ी कहलाती है। इसमें कठोर ओजगुण पूर्ण वर्ण गुम्फ का प्रयोग होता है।

पाञ्चाली : यह मध्यवर्तिनी रीति है। इसमें मन या चित्त की दशा न माधुर्यपूर्ण होती है न फूल के समान खिलकर चित्त विकसित हो जाता है वरन् इसमें सरल सुख और सरल प्रसन्नता का आभास होता है। प्रसाद गुण सम्पन्न रीति को पाञ्चाली कहते हैं।

रीति का नामकरण : रीतियों का नामकरण वैदर्भादि देशों के आधार पर किया गया है। इन-इन देशों में इन रीतियों की प्रधानता रही होगी। इसी आधार पर पूर्व आचार्यों ने देश के आधार पर उनका नामकरण कर दिया। यह नामकरण प्रादेशिकता से सम्बन्धित है गुण से नहीं। किन्तु काव्य-शास्त्र में ये नाम-गुण के अर्थ व्यंजक बन गये हैं।

किन्तु एक बात से हम पूर्णतया आँख भी मूंद नहीं सकते कि प्रदेश का प्रभाव रीतियों पर नहीं पड़ता। प्रदेश का प्रभाव उसकी भाषा पर, भाषा-शैली पर, अभिव्यक्ति पर स्पष्ट पड़ता है, आज प्रत्येक प्रान्तीय भाषा का काव्य अथवा उसकी शब्द-शैली, शब्द गुण बहुत कुछ प्रादेशिकता लिये हुए है।

इसके साथ रीति का मुख्य आधार कवि का व्यक्तित्व ही है। कवि का जैसा व्यक्तित्व होगा उसकी शब्द-रचना अथवा शैली भी उसी के अनुरूप होगी। इसी बात को यदि हम थोड़ा-सा और थोड़ी दूर ले जायें तो हमें वहीं घूमकर आना पड़ता है कि कवि के व्यक्तित्व के पीछे प्रादेशिक जलवायु का, वातावरण का गहरा प्रभाव होता है। अतः वे आधार रीति में अपना कार्य करते हैं।

उदाहरण रूप में अधिकांश पंजाबी कवियों की पद-रचना पर पंजाबी प्रादेशिकता का प्रभाव है किन्तु बाबा फरीद, भाई वीरसिंह आदि की शैली उनके व्यक्तित्व के अधिक समीप है। बाबा फरीद की पद रचना के बारे में तो भाषा की स्थानीय मधुरता की बात कही जा सकी है क्योंकि उनकी भाषा पंजाबी की स्थानीय मधुर भाषा थी किन्तु भाई वीरसिंह का व्यक्तित्व ही उनकी शैली में प्रकट हुआ है। कोई भी व्यक्ति इस सत्य का खण्डन नहीं कर सकता।

अतः रीति का आधार प्रादेशिकता और व्यक्तित्व दोनों ही हैं। विषय का भी रीति में हाथ है।

रीति के नियामक तत्व : वामन तो रीति को साध्य मानता था। उसके लिये रीति के नियामक तत्वों का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। वे तो रीति को स्वतन्त्र काव्य सिद्धान्त मानते थे। रस तथा ध्वनिवादियों ने सर्वप्रथम इस प्रश्न

को उठाया है। आनन्द वर्धनाचार्य रस को रीति का नियामक तत्त्व मानते हैं। उसी के अधीन तीन हेतु और हैं—वक्तृ औचित्य, वाच्य औचित्य और विषय औचित्य।

(१) **वक्तृ औचित्य** : वक्ता के स्वभाव और मनःस्थिति के अनुकूल रीति का निर्माण होता है।

(२) **वाच्य औचित्य** : विषयवस्तु ही रीति का नियामक हेतु है। जैसा वर्ण्य-विषय है रीति उमी पर आधारित होती है। कोमल विषय का वर्णन कोमल शैली और कठोर विषय का वर्णन परुष शैली को जन्म देता है।

(३) **विषय-औचित्य** : आनन्द वर्धन ने विषय-औचित्य के अन्तर्गत विषय को नहीं रखा। विषय-औचित्य के अन्तर्गत उन्होंने काव्यरूप को स्थान दिया।

इन तीनों रीति के नियामक तत्वों में प्रथम दो तो पूर्ण संगत तथा तत्त्वपूर्ण हैं किन्तु काव्यरूपों को रीति के नियामक हेतु मानना अनुचित है। विभिन्न काव्य रूपों में रीति का नया रूप बनता है। यह बात पूर्वी युगों में रचित समस्त साहित्य के अध्ययन से कोई अनुमोदन नहीं होती। प्रथम दो ही रीति के नियामक हेतु हैं, वह भी रसाधीन होने से वरन् नहीं।

रीति को रसाधीन यहाँ तक मानने की बात है वहाँ सम्भवतः ही कोई सहमत न हो। किन्तु इस बात को भी दूर तक घसीटना उचित नहीं। क्योंकि रस की उत्पत्ति भाव से है। भाषा का सम्बन्ध भी यद्यपि भाव से है किन्तु भाषा में अना भी माधुर्य ओजप्रसाद गुण होता है। भारतीय भाषाओं का अध्ययन इसका साक्षी है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य के नियामक हेतु रस के अधिक वक्तृ वाच्य-विषय के साथ-साथ और भी खोजे जा सकते हैं कि कवि का स्वतंत्र मौलिक व्यक्तित्व ही प्रधान है।

वामन के पूर्व रीति की स्थिति

यह हम पूर्व भी लिख चुके हैं कि रीति सिद्धान्त का मूल रूप वामन से पहले भी संस्कृत समीक्षा शास्त्र में विद्यमान था कि उसको स्वतन्त्र सम्प्रदाय का महत्त्व पहले-पहल वामन की तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि ने ही दिया।

वामन के पूर्व रीति का बीज सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में सुरक्षित है। भरतमुनि ने यद्यपि रीति का विवेचन नहीं किया किन्तु भरतमुनि ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित प्रवृत्तियों का वर्णन अवश्य किया है।

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्य प्रयोगतः ।

आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड्रमागधी ॥

इसके अनुसार चार प्रवृत्तिएँ हैं—पश्चिम भाग की प्रवृत्ति आवन्ती, दक्षिण की दाक्षिणात्य, पूर्व की उड्रमागधी और मध्य प्रदेश की पांचाली ।

यह विभाजन एकमात्र भाषा का नहीं—यह विभाजन विभिन्न प्रदेशों की वेषभूषा, भाषा तथा आचारवार्ता का है । इससे स्पष्ट है कि इन प्रदेशों में जैसे अन्य बातों में भिन्नता थी वैसे ही भाषा में भी अन्तर था, यह भाषा का ही नहीं उसके गुणों का भी था ।

वामन ने सम्भवतः निश्चय ही यहीं से रीति का संकेत प्राप्त किया था । वामन ने उसे एक सर्वमान्य सिद्धान्त का रूप दे डाला ।

इस प्रकार वामन से पूर्व रीति का स्वरूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था । वामन ने उसको सिद्धान्त रूप देकर उससे साहित्य का एक सम्पूर्ण मापदण्ड बनाने का प्रयत्न किया । इसमें वह सफल भी रहा । वह रीति को काव्य की आत्मा तो घोषित कर गया । आगे चल कर चाहे वह आत्मा न रह सका । रस ने आत्मा का स्थान ग्रहण कर लिया ।

रीति सिद्धान्त एक देहवादी सिद्धान्त है इसमें सन्देह करना या उसको काव्य की आत्मा मानना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है, किन्तु उसकी काव्य-गुण-युक्त महत्ता की ओर से लापरवाही करना भी बड़ी भारी भूल है । जब आज भी ऋचे जैसे विद्वान् अभिव्यञ्जनावाद को काव्य का एक मान्य सिद्धान्त बनाने में बहुत कुछ सफल हो चुके हैं ।

इति वैदभी मार्गस्य प्राणाः दशगुणा स्मृता ।

एषां विषय प्रायो लक्ष्यते गोड वर्त्मनि ॥

इति मार्ग द्वयं भिन्नं तत्स्वरूप निरूपणात् ।

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिता ॥

अर्थात् वाणी के अनेक मार्ग (द्वार) हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद है । इनमें वैदभी और गोड़ी का अन्तर स्पष्ट है । श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अभिव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, समाधि—ये दस गुण वैदभी मार्ग के हैं । गोड़ मार्ग में उनका विपर्यय दिखाई देता है—इस प्रकार प्रत्येक का स्वरूप निरूपण कर दोनों मार्गों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है । जहाँ तक प्रत्येक कवि में स्थित उनके भेदों का सम्बन्ध है उनका वर्णन कठिन है ।

दण्डी के विवेचन से स्पष्ट है कि वामन से पूर्व रीति मार्ग एक स्पष्ट रूप धारण कर गया था। वह अब प्रवृत्ति से निकल कर भाषारीति का स्पष्ट रूप धारण कर गया था।

दण्डी के उपरान्त तो वैदर्भ मार्ग ही उत्तम मार्ग माना जाता था। भामह ने यद्यपि किसी मार्ग को अपने-आप में उत्तम न मानकर रीति के अन्तर के काव्य-गुणों को ही महत्त्व दिया है उन्होंने सत्काव्य को ही उत्तम रीति माना है वह चाहे वैदर्भी में हो या गौड़ी में।

भामह के उपरान्त रीति का विवेचन दण्डी ने किया है—वास्तव में दण्डी ने पहली बार रीति का सिद्धान्त-रूप में विवेचन किया है। और पूरे मनोयोग के साथ। इसीलिए अनेक परवर्ती आचार्य दण्डी को रीतिवादी कहते रहे। यह भूल थी। दण्डी ने रीति का विवेचन करते हुए लिखा है :—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः
सूक्ष्म भेद परस्परम् ।
तत्र वैदर्भी गौड़यी—
वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरी ॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं मुकुमारता ।

अभिष्यक्ति रुदारत्वभोज कान्ति समाधयः ॥

भरत के उपरान्त—वाणभट्ट ने भी इन मार्गों का विवेचन किया है, उसने भी इन मार्गों को अधिकतर प्रवृत्ति के साथ ही जोड़ा है। फिर भी उसमें भाषा के स्वरूप तथा उसके शैली-भेद का स्पष्ट संकेत है।

रीति का भरत ने मार्ग या प्रवृत्ति नाम से विवेचन किया है। रीति का सर्वप्रथम सिद्धान्त या शैली-रूप में विवेचन भामह ने किया है। भामह ने रीति शब्द का प्रयोग न करके रीति के अर्थ में काव्य शब्द का प्रयोग किया है।

भामह के समय में—वैदर्भ और गौड़ दो मार्ग प्रचलित थे। उन ही का उन्होंने विवेचन किया है।

भामह के समय तक वाण की उदीच्य और प्रतीच्य और भरत के आवन्ती और पांचाली प्रसिद्ध नहीं रह सके थे लोक में तथा काव्य में।

अन्त में यह कहना अधिक संगत और तात्विक होगा कि रीति सिद्धान्त काव्य का शरीर है, आत्मा का वाहन है। इसकी अपनी महत्ता है। दुर्बल आत्मा सुन्दर शरीर में जैसे नहीं रह सकती उसी प्रकार दुर्बल शरीर आत्मा का वाहन भी नहीं बन सकता।

रीति एक काव्य का अंग है जिसके सुन्दर रूप बिना काव्य की सृष्टि कुरूप और भद्दी लगेगी । देह को अपना महत्त्व देना पड़ेगा ।

वामन नवीन सिद्धान्त के प्रबल संस्थापक होने के कारण उन आचार्यों की श्रेणी में आते हैं जो आदरणीय हैं, जिनका यश अक्षुण्ण है, वामन अमर हैं ।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत के मान्य पाँच सम्प्रदायों में वक्रोक्ति सिद्धान्त अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है। यद्यपि रीति और अलंकार सिद्धान्त के समान वक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य की आत्मा का स्थान प्राप्त नहीं कर सका, फिर भी संस्कृत साहित्य में अथवा साहित्य में उसकी महत्ता नितान्त मान्य है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धान्त के संपादक आचार्य कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तक मौलिक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के बल ही उन्होंने वक्रोक्ति के काव्य-सिद्धान्त को ही नहीं बनाया वरन् वक्रोक्ति सिद्धान्त कुन्तक की प्रतिभा का स्पर्श पाकर एक सम्प्रदाय बन गया।

यह सर्वमान्य है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त के बीज कुन्तक के पूर्व भी साहित्य-शास्त्र में विद्यमान थे। कुन्तक ने उसी बीज को अपने प्रतिभा के बल पर एक सिद्धान्त का रूप दे दिया।

वक्रोक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वाणभट्ट की कादम्बरी में मिलता है। कादम्बरी से वक्रोक्ति का प्रयोग शब्दालंकार में न होकर व्यापक अर्थ में हुआ है। वाण वक्रोक्ति शब्द का अर्थ शब्द-वैदग्ध्य और अर्थ-वैदग्ध्य दोनों लेते थे। उन्हें शब्द-अर्थ ही अभिप्रेत नहीं था।

वाण के उपरान्त वक्रोक्ति का काव्यशास्त्र में तार्त्विक विवेचन भामह से आरम्भ होता है। भामह वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की वक्रता को मानते हैं :—

‘वक्राभिधेय शब्दोक्ति रिष्टावाचा अलंकृति ।

इस प्रकार वक्रोक्ति शब्द-अर्थ दोनों से समन्वित है। भामह तो इससे भी आगे बढ़कर वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल मानते हैं। भामह ने तो ‘सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति’ लिखकर अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति ही मान लिया है।

वक्रोक्ति का विवेचन करने वाले दूसरे आचार्य हैं दण्डी। भामह के पश्चात् दण्डी ने वक्रोक्ति का वर्णन किया है।

दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है—स्वभावोक्ति

और वक्रोक्ति । स्वभावोक्ति में वस्तुओं का या विषय का प्रत्यक्ष साक्षात् अथवा यथार्थ वर्णन होना है अतः इसके अन्तर्गत शास्त्रादि आते हैं । 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं' शास्त्रों में इसका साम्राज्य है । वक्रोक्ति में उन्होंने 'कथन की अतिशयता' मानी है । उपमादि अलंकार दण्डी के विचार में वक्रोक्ति के ही भेद हैं । भामह की तरह दण्डी ने भी अतिशयता को अलंकारों का मूल माना है । सारांश में दण्डी और भामह में वक्रोक्ति के सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद नहीं ।

दण्डी के विपरीत वामन ने वक्रोक्ति को सामान्य अलंकार न मानकर एक विशिष्ट अलंकार माना है । दण्डी ने वक्रोक्ति की गणना स्वभावोक्ति से भिन्न, सर्व सामान्य अलंकार में की है । वामन वक्रोक्ति को शब्दालंकार न मानकर अर्थालंकार की कोटि में रखते हैं । वामन ने वक्रोक्ति का लक्षण करते हुए लिखा है :—

‘सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति’

अर्थात् सादृश्य-लक्षणा वक्रोक्ति है । अतः असादृश्य-लक्षणा वक्रोक्ति नहीं होती ।—लक्षणा वास्तव में—वक्रोक्ति ही है क्योंकि अभिधा-व्यापार को छोड़कर अभिव्यक्ति के लक्षणा और व्यंजना दोनों प्रकार वक्रोक्ति ही हैं । अतः लक्षणा के किसी भी अंग को वक्रता से भिन्न मानना असंगत है । वैसे वामन ने अपने विवेचन में स्थान-स्थान पर वक्रता का प्रचार किया है किन्तु वे वक्र शब्द के प्रयोग से मुक्त रहे हैं ।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने वक्रोक्ति के क्षेत्र में उथल-पुथल ही मचा दी । रुद्रट ने वक्रोक्ति की व्यापकता पर कड़ा प्रहार किया । वामन के पूर्व वक्रोक्ति सर्व-सामान्य अलंकार तथा विशिष्ट अलंकार मानी गई थी किन्तु रुद्रट ने उसको सर्वमान्य और विशिष्ट अलंकार के क्षेत्र से निकालकर शब्दालंकार के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया । रुद्रट ने वक्रोक्ति के दो भेद किये—काकु वक्रोक्ति और सभंग श्लेष वक्रोक्ति । काकु के द्वारा उच्चारण बदलकर अर्थ में वक्रता उत्पन्न की जाती है और 'भंग श्लेष' में श्लेष द्वारा ।

ऐतिहासिक दृष्टि से रुद्रट के बाद आनन्दवर्धन का नाम आता है । आनन्दवर्धन ध्वनिवादी आचार्य थे अतः उन्होंने वक्रोक्ति को स्वतन्त्र महत्ता न देकर ध्वनि के अन्तर्गत ही मान लिया । सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसा उचित भी था । आनन्दवर्धन वक्रोक्ति को सर्वालंकार रूप और अतिशयोक्ति का पर्याय ही मानते हैं ।

आनन्दवर्धन के पश्चात् जिन आचार्यों ने वक्रोक्ति का विवेचन किया उनके नाम हैं अभिनव तथा भोजकुन्तक । कुन्तक तथा भोज की मान्यताएँ समान

ही हैं। ऐसा क्यों है स्पष्ट रूप से कहना कठिन है। यही प्रतीत होता है कि इन्होंने एक-दूसरे के लक्षणग्रन्थों को अवश्य पढ़ा होगा।

भोज ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओं को एक साथ समन्वय किया है।

भोज ने भामह की वक्रोक्ति की सर्वव्यापकता को ज्यों-कान्त्यों स्वीकार कर लिया है। दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के अन्तर्गत नहीं रखा था। वक्रोक्ति को सर्वकाव्य की प्रणय न मानकर उसका महत्व संकुचित कर दिया। भोज ने वाङ्मय के तीन भाग किये—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। भोज ने दण्डी के स्वभावोक्ति के साथ तीसरे रूप रसोक्ति को भी बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार वक्रोक्ति का क्षेत्र और संकुचित कर दिया।

वामन की सादृश्य लक्षणा को तथा उस द्वारा बहिष्कृत असादृश लक्षणा को अर्थात् समस्त लक्षणा को वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया।

वामन के उपरान्त रुद्रट की विशिष्टालंकार वाली स्वीकृति को भी मान्यता देते हुए उसे शब्दालंकार ही माना। इस प्रकार भोज ने अपने पूर्व के आचार्यों की वक्रोक्ति सम्बन्धी समस्त मान्यताओं को किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करते हुए उसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर दिया।

भोज के बाद मम्मट आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति को विशिष्टालंकार ही माना। विश्वनाथ ने भी वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना। एक आद्य आचार्य ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार से बाहर घसीटने का प्रयत्न किया किन्तु प्रयत्न सफल न हुआ।

इन समस्त संस्कृत आचार्यों में कुन्तक ही एक ऐसे आचार्य थे जिन्होंने वक्रोक्ति को काव्यात्मा की प्रतिष्ठा देने का सफल प्रयत्न किया। उन्हीं की प्रखर प्रतिभा का आधार पाकर वक्रोक्ति एक सम्प्रदाय का रूप धारण कर गई।

किन्तु आज वक्रोक्ति एक विशिष्टालंकार से अधिक कुछ नहीं।

वक्रोक्ति सिद्धान्त

कुन्तक वक्रोक्ति के संस्थापक हैं। वे वक्रोक्ति को काव्य का जीवन अथवा प्राणतत्त्व मानते हैं। वक्रोक्ति 'काव्य जीवितम्' अर्थात्—'वक्रोक्ति काव्य का जीवन है।'

वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है : वक्र-उक्ति। वक्र का अर्थ टेढ़ा, उक्ति का अर्थ कथन—'टेढ़ा कथन' वक्रोक्ति है। भामह ने 'लोक अतिक्रमण करने वाला वचन' कहा है। अभिनव गुप्त तथा आचार्य कुन्तक का भी यही मत है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—“वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी भणितिरुच्यते ।” अर्थात् वैदग्ध्य, चमत्कारपूर्ण कथन ही वक्रोक्ति है । वैदग्ध्य का अभिप्राय कविकर्म कुशलता से है । कुन्तक ने इसीको सर्वाधिक महत्व दिया है ।

वक्रोक्ति भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं—

१. वर्णविन्यास वक्रता ।
२. पदपूर्वार्ध वक्रता ।
३. पदपरार्ध वक्रता ।
४. वाक्य वक्रता ।
५. प्रकरण वक्रता ।
६. प्रबंध वक्रता ।

जैसे ऊपर के विभाजन से स्पष्ट है कि वक्रोक्ति का घेरा वर्ण से लेकर प्रबंध वक्रता तक है । इस प्रकार उसका क्षेत्र छोटी-से-छोटी इकाई से लेकर काव्य के व्यापक रूप तक है ।

(१) वर्णविन्यास वक्रता : कुन्तक के शब्दों में --

एको द्वौ बहवो वर्णा मध्यमाना पुनः पुनः ।

स्वल्पान्तरास्त्रिधा संबन्धवर्णविन्यास वक्रता ॥

अर्थात् एक-दो या अनेक वर्ण थोड़े-बहुत अन्तर के साथ जहाँ प्रयुक्त होते हैं वहाँ वर्णविन्यास वक्रता होती है ।

यह वर्णविन्यास वक्रता, अनुप्रास आदि अलंकार ही हैं, सभी आचार्यों ने तथा कुन्तक ने स्वयं इसके अन्तर्गत स्पष्ट लिखा है—एतदेव वर्णविन्यास वक्रत्वं चिरन्तनेऽनुप्रास इति प्रसिद्धम् । कुन्तक की वक्रता तीन प्रकार की है—एक वर्ण आवृत्ति, दो तथा अनेक वर्णों की आवृत्ति । इन तीनों के अतिरिक्त कुन्तक ने और भेद किए हैं जिनके विवेचन से पता चलता है कि वे सब भेद वृत्ति में और रीतियों का ही वर्णन है । सारांश में अनुप्रास, उसके भेद, यमक रीति वृत्ति आदि को कुन्तक ने अपनी वर्णविन्यास वक्रता के अन्तर्गत ही ले लिया है ।

(२) पदपूर्वार्ध वक्रता : वर्ण के उपरान्त पद का स्थान है । इसके अन्तर्गत सुबन्त तिङत—अर्थात् प्रतिपदिक और धातु समानार्थक शब्द, रूढ़ि समास तद्धित, लिङ्क्रिया आदि प्रयोग आते हैं ।

इसके मुख्य भेद आठ हैं—

(१) रूढ़िवैचित्र्य वक्रता : रूढ़ि प्रचलित शब्द अर्थ पर असंभाव्य सुन्दर अर्थ का आरोप रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता कहलाता है ।

(२) पर्याय वक्रता : पर्यायवाची समानार्थक शब्दों के द्वारा उनके सूक्ष्म अन्तर से जब कवि सौन्दर्य उत्पन्न करता है तो उसे पर्याय वक्रता कहते हैं ।

(३) उच्चार वक्रता : भिन्न धर्म, भिन्न स्वभाव की दो वस्तुओं के परस्पर आरोप का नाम उच्चार है । इसके अन्तर्गत रूपकादि अलंकार आते हैं ।

(४) विशेषण वक्रता : जहाँ कारक या क्रिया के प्रभाव द्वारा सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसे विशेषण वक्रता कहते हैं ।

(५) संवृति वक्रता : जहाँ वक्र वर्णन से किसी वस्तु या व्यक्ति को गोपन रखा जाए वहाँ संवृति वक्रता होती है ।

(६) वृत्ति वक्रता : जहाँ अव्ययीभाव आदि वृत्तियों से सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना होती है वहाँ वृत्ति वैचित्र्य वक्रता कहते हैं ।

(७) लिङ् वैचित्र्य वक्रता : लिङ् प्रयोग पर आश्रित सौन्दर्य लिङ् वैचित्र्य वक्रता कहा जायेगा ।

(८) क्रिया वैचित्र्य वक्रता : जहाँ का सारा सौन्दर्य क्रिया पर निर्भर हो । उसे क्रिया वैचित्र्य वक्रता कहते हैं ।

(९) पद परार्थ वक्रता : पद परार्थ वक्रता को प्रत्यय वक्रता भी कहते हैं, अर्थात् जहाँ प्रत्यय के द्वारा उक्ति में सौन्दर्य लाया जाए वहाँ पदपरार्थ वक्रता कहते हैं । इसके आचार्य ने छः भेद किये हैं ।

(४) वाक्य वक्रता : अनेक पदों के संयोग का नाम वाक्य है । इस प्रकार वाक्य में समन्वित अर्थ की सुन्दर व्यञ्जना ही वाक्य वक्रता है, वाक्य वक्रता के असंख्य भेद हो सकते हैं । वास्तव में वक्रता का बहुत-कुछ ढाँचा वाक्य वक्रता पर ही निर्भर है ।

(५) प्रकरण वक्रता : सारे ग्रन्थ में एक विषय का विशिष्ट वर्णन प्रकरण वक्रता कहलाता है ।

(६) प्रबंध वक्रता : प्रबंध का अर्थ है—सम्पूर्ण दृश्य तथा श्रव्य काव्य । इस प्रबंध काव्य में पूर्वकथित वक्रता के अंगों द्वारा वक्रता लाना ही प्रबंध वक्रता है । प्रबंध अंगी है और वक्रता के पूर्व कथित पाँच भेद अंग हैं । अंगी का सौन्दर्य अंगों पर निर्भर है ।

कुन्तक ने अपने काव्य सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए ध्वनि अलंकार आदि सम्प्रदायों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही मान लिया है । रस से भी

वक्रोक्ति का कार्य विरोध नहीं। वरन् वे रस को अलंकार्य मान कर काव्य के लिए साध्य मानते हैं। अलंकार को वे वस्तुस्वभाव नहीं मानते। उनकी दृष्टि में अलंकार्य अर्थात् रस ही वस्तु स्वभाव हो सकता है।

इस प्रकार वे रस के विरोधी नहीं थे।

कुन्तक वक्रोक्ति का अर्थ एकमात्र चमत्कार नहीं लेते। वे तो रसोक्ति वक्रता को ही काव्य की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार उनकी वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य मात्र न होकर आनन्दोत्पादक वक्रता है।

इस प्रकार वक्रोक्ति संप्रदाय एक महत्वपूर्ण और सूक्ष्म सम्प्रदाय है।

ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धान्त संस्कृत के अन्य मौलिक निभ्रान्त सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त है। इसकी मान्यता आज अक्षुण्ण है। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक मेधावी आचार्य आनन्दवर्धन हैं। आनन्दवर्धन का स्थान संस्कृत आलोचना-शास्त्र में अद्वितीय है। इसके बारे में किसी को कोई भ्रान्ति नहीं, न दूसरा मत है। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व रस रीति और अलंकार आदि मान्य सिद्धान्तों की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी। आलोचना शास्त्र में वे मत सम्प्रदाय का रूप धारण कर चुके थे। अन्य सिद्धान्तों की भ्रान्ति इस सिद्धान्त का जन्म भी आनन्दवर्धन के पूर्व हो चुका था किन्तु संकेत रूप में साहित्य शास्त्र या सिद्धान्त के रूप में इसकी स्थापना आनन्दवर्धन ने ही की। अन्य सिद्धान्तों की स्थापना के पूर्व उनका बहुत-कुछ रूप विवेचित भी हो चुका था किन्तु ध्वनि सिद्धान्त की ऐसी स्थिति नहीं थी। इसका बीज तो व्याकरण आदि में विद्यमान था किन्तु साहित्य-शास्त्र में विवेचन का विषय नहीं बन सका था। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व आचार्य इससे परिचित तो अवश्य थे जैसा कि स्वयं आचार्यजी का कथन है—‘काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः’ काव्य की आत्मा ध्वनि है यह पूर्व विद्वानों का अभिमत है।’ इसमें स्पष्ट है कि ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा आचार्य को पूर्व विद्वानों के विवेचन से ही मिली और उसीको आधार बनाकर उन्होंने अपने मत की स्थापना की। ध्वनि सिद्धान्त आनन्दवर्धन की मौलिक प्रतिभा का वरदान पाकर एक सार्वभौमिक सिद्धान्त बन गया, चाहे आजका विद्वान रसवादी है या वक्रोक्ति या अलंकारवादी अथवा ध्वनिवादी।

ध्वनि की परिभाषा : व्यंजना विशेष प्रकार की ध्वनि है अर्थात् जिससे किसी वस्तु भाव या रस का ध्वनन हो वह ध्वनि है। आनन्दवर्धन की शब्दावली में—यत्रार्थी वाच्य विशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यक्तः सः काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।’

अर्थात् जो विशेष वाच्य या वाचक शब्द उस अर्थ को (प्रतीयमानी

अर्थ) को प्रकट करते हैं, वह काव्य विशेष ध्वनि है। वह अर्थ विशेष अर्थात् प्रतीयमान अर्थ रमणियों के अंगों में लावण्यता रूप में आभासित होता है। विशेष कवियों की वाणी उसी अर्थ को व्यक्त करती है। वाच्य अर्थ को प्रकट करना महाकवियों का कार्य नहीं होता। वे तो वाचक या आभिधेय शब्द द्वारा किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं।

सारांश यह कि सिद्धान्त की महत्ता के कर्म विमुख नहीं हो सकता। आचार्य शुक्ल जैसे रस के प्रबल प्रतिष्ठापक भी ध्वनि का विरोध नहीं कर सके, वरन् ध्वनि को रस के अधीन मानकर किसी-स-किसी रूप में इसके समर्थक ही रहे। अधिकांश लोग तो आज भी ऐसे हैं जो ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं चाहे वे भारती विद्वान हैं या पश्चिमी। श्रौचे का अभिव्यंजनावाद अपने आधुनिक रूप में ध्वनिवाद ही है। कोई भी समझदार व्यक्ति इस सत्य का विरोध नहीं कर सकता। प्रगतिवाद या प्रयोगवाद के कवि तो अभिधा के घोर विरोधी तथा लक्षणा (जो एक प्रकार की ध्वनि है) और व्यंजना के परम भक्त थे। सारांश यह है कि आज भी ध्वनि की मान्यता सिद्धान्त क्षेत्र में अकाट्य है।

ध्वनिसिद्धान्त को प्रेरणा का सूचक भी कहा जा सकता है। यह प्रेरणा चाहे दूर की ही है किन्तु है सत्य। क्योंकि यदि साहित्य में ध्वनि का रूप प्राप्य न होता तो सम्भवतः ध्वनि की कल्पना व्याकरण के स्फोट से आगे न बढ़ सकती। इस प्रकार ध्वनि की मूल आधार यहाँ एक ओर व्याकरण का स्फोट-वाद है वहाँ साहित्य का व्यंजना-प्रधान रूप भी है। इसके साथ सादृश्यात्-लक्षणा वक्रोक्ति' के सिद्धान्त सूत्र में भी इसका बीज उपलब्ध होता है। क्योंकि लक्षणा में यहाँ सादृश्य प्रकट होता है वहाँ वक्रोक्ति निश्चित है, यहाँ वक्रोक्ति है वहाँ ध्वनि साम्राज्य भी अतक्य है।

ध्वनि शब्द में अर्थ में और शब्द अर्थ के व्यापार में रहती है। इस प्रकार ध्वनि वाच्य से आगे बढ़कर लाक्षणिक तथा व्यंग्य के रमणीय रूप का नाम ध्वनि है।

पीछे हम संकेत कर आये हैं कि ध्वनि की पूर्व कल्पना हमें व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त में मिलती है। वहाँ यद्यपि ध्वनि का व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन है किन्तु विस्फोट में इसका रूप पूर्ण स्पष्ट है। व्याकरण में स्फोट का अर्थ है—वर्णानों के संघात द्वारा एक विशेष अर्थ का प्रस्फुटन, वर्णों से भिन्न अर्थ का प्रस्फुटन—व्याकरण में यही ध्वनि है। ध्वनिसिद्धान्त की कल्पना का एक मूल आधार यह भी है। दूसरा आधार साहित्य में भी देखा जा सकता है। काव्य में

जहाँ व्यंजना का प्राबल्य रहा है वहाँ प्राबल्य को ही लें। प्रत्येक पर्यायवाची शब्द के अर्थ में भिन्नता होती है यह भिन्नता ध्वनि ही है। क्योंकि कवि पर्यायवाची शब्दों के द्वारा जिस रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति करता है वे अर्थ वाच्य अर्थ से भिन्न होते हैं। सहृदय कवि ही उसको ग्रहण करते हैं।

ध्वनि के मुख्य भेद

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं। लक्षणा मूला ध्वनि और अभिधा मूला ध्वनि।

लक्षणा मूला ध्वनि : लक्षणाभूला ध्वनि लक्षणा के आश्रित होती है। इसमें वाच्य अर्थ-बाधित रहता है। वाच्य अर्थ की इसमें प्रतीति नहीं रहती। इसके आगे दो भेद हैं।

ध्वनि शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है कि ध्वनि वाच्य-वाचक शब्द अर्थ से भिन्न वस्तु है। लक्षणा तथा व्यंजना का सादृश्य या एक रूप तो माना जा सकता है और है भी किन्तु अभिधा व्यंजना तथा लक्षण से पूर्ण भिन्न है।

अभिधार्थ, व्यंग्यार्थ या ध्वन्यार्थ पूर्ण भिन्न होता है।

इस श्लोक से यह स्पष्ट है—

बोद्ध् स्वरूप संख्या निमित्त कार्यप्रतीति कालानाम।

आश्रय विषादिनाम् भेदादि भन्तः अभिधेतो व्यङ्ग्यः।

अर्थात् बोद्ध, स्वरूप, संख्या निमित्त कार्यकाल आश्रय विषय आदि के अनुसार वाच्यार्थ (अभिधेत्यर्थ) से भिन्न होता है। पर्यायवाची शब्दों से सत्ता बनी रहती है। इसके भी तीन भेद हैं—

१. शब्द शक्ति उद्भव।

२. अर्थ शक्ति उद्भव।

३. शब्दार्थ उभय शक्ति उद्भव।

इन भेदों के उपरान्त ध्वनि के और भी अनेक भेद हैं किन्तु वे सब इन्हीं के आश्रित होते हैं

ध्वनिभेदों के साथ ध्वनि के अनुसार काव्य के भी तीन भेद हैं। उत्तम मध्यम और अधम। इसमें उत्तम में व्यंग्यार्थ प्रधान, मध्यम में वाच्य अर्थ प्रधान तथा व्यंग्य गौण अधम में न व्यंग्य अर्थ होता है न रमणीय, फिर भी इसको अधम काव्य कोटि में रखा है।

१. अर्थान्तर संकुचित वाच्य।

२. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य : जहाँ वाच्य अर्थ बाधित होकर दूसरे या अन्य अर्थ में परिवर्तित या परिणत हो जाये उसे अर्थान्तर संकुचित वाच्य-ध्वनि कहते हैं ।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य : इसमें वाच्यार्थ पूर्णतया परिष्कृत कर दिया जाता है । उसको त्रिलकुल छोड़ दिया जाता है । यह ध्वनि पदगत तथा वाच्य-गत दोनों प्रकार की होती ही है ।

अभिधा मूला ध्वनि : यह ध्वनि अभिधा के अधीन रहती है । इसमें वाच्य अर्थ प्रधान होता है, किन्तु व्यंग्यार्थ का अस्तित्व पूर्णतया लुप्त नहीं होता । उसके इस अधर्म काव्य को काव्य में रखना ध्वनि सिद्धान्त की दृष्टि से उचित नहीं । इससे ध्वनि सिद्धान्त की तो कोई हानि नहीं किन्तु काव्य की उच्चता तो क्या काव्यत्व भी इसमें नहीं भलकता । अधम काव्य लिखने वाले कवि सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक कभी नहीं बन सकते, न बने है ।

इस प्रकार ध्वनि काव्य का एक सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है । ध्वनि के अभाव में कवित्व का प्रस्फुटन असम्भव है । यद्यपि रस की दृष्टि से रसात्मक वाक्य ही काव्य है । किन्तु रस के अंगों का परिगणन काव्य नहीं । अतः ध्वनि रसात्मक काव्य के लिए भी अनिवार्य है । रसहीन ध्वनि भी चमत्कार मात्र है, काव्य नहीं । कोई भी उक्ति कितनी भी वक्र क्यों न हो जब तक वह हृदय के भाव को या हृदयतत्त्व को स्पर्श न करे तब तक उसको काव्य संज्ञा देना असंभव अथवा अमंगल है । अतः ये कहना चाहिये कि रस जब ध्वनन होकर व्यक्त होता है तो काव्य का रूप धारण कर लेता है । किन्तु इसके विपरीत यह कहना कि ध्वनि रसात्मक रूप धारण करने पर काव्य बन सकती है तो फिर भी रस की महत्ता अपने-आप सिद्ध हो जाती है ।

आज की नई या प्रयोगवादी कही जानेवाली कविता में रस की स्थिति और भी विकट हो गई है, क्योंकि आज की नई कविता शास्त्रीय भावों के ढाँचे पर आधारित नहीं होती । अतः इसमें रसात्मकता कम होती है । जैसे अर्थ में पुरातन साहित्य या काव्य में होती थी । अतः आज ध्वनि का महत्व बढ़ गया है । आज की कविता नया अर्थ प्रयोग, दूसरी शब्दावली में प्रचलित वाच्य, शब्द अर्थों में नया अर्थ भरने की स्थिति ध्वनि ही है, किन्तु रस नहीं, रस का उसमें अभाव-सा ही प्रतीत होता है । व्यापक रूप में या आधुनिक शब्दावली में अनुभूति भी रस ही है, यदि वह ठीक ढंग से ध्वनित होकर हृदयस्पर्शी होती है । इस छोर तक पहुँचकर रस और ध्वनि काव्य के लिए अनिवार्य हो जाते हैं । एक की एकान्त स्थिति इतिवृत्त या नीरस चमत्कार-

मात्र रह जाती है अतः रस तथा ध्वनि एक-दूसरे के सहायक हैं । काव्य के लिए उपजीवी हैं ।

इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त रस-विरोधी न होकर उसका पोषक है । अतः काव्य का अनिवार्य तथा एक सूक्ष्म सिद्धान्त है ।

अलंकार सम्प्रदाय

रस-ध्वनि रीति और वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों की भाँति आलोचना या काव्य-शास्त्र में इस सम्प्रदाय का भी अपना निश्चित स्थान है। काव्य की आत्मा 'रस' को घोषित करने से पूर्व तो अलंकार सिद्धान्त भारतीय काव्य का मान्य सिद्धान्त माना जाता रहा है। रस तथा ध्वनिवाद के जन्म से अलंकार की महत्ता को बड़ा धक्का लगा। "काव्य-शास्त्र का प्रत्येक अंग अलंकार है या अलंकार काव्य के लिए साध्य है। अलंकारों के बिना काव्यमृष्टि असंभव है" ये सब बातें खण्ड-खण्ड होकर रह गईं। रस को काव्य की आत्मा मान लेने के उपरान्त अलंकार तो क्या रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य पुरुष के शरीर के अंग बनकर रह गये।

इतना ही नहीं मम्मट ने तो अपनी काव्य-परिभाषा—“तद दोषो शब्दार्थो सगुणावलंकृती पुनः क्वापि”—में अलंकार का परिहार ही कर दिया है। अलंकारों का लक्षण करते हुए भी उन्होंने लिखा है—

उप कुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हाराविवत्-अलंकारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः ॥

अर्थात् अलंकार 'जातुचित्' कभी-कभी ही रस को अलंकृत करते हैं सदा नहीं। अतः काव्य के अस्थिर धर्म हैं।

महापात्र विश्वनाथ ने भी यही आशय एक स्थान पर प्रकट किया है :

शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्माश्शोभातिशायिनः ।

रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदावि वत् ॥

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने तो अलंकारों को काव्य के अस्थिर धर्म मानकर उनके मूल अस्तित्व पर ही कुठाराघात कर दिया है। यह सब कुछ होते हुए यह भी निश्चित है कि आज तक काव्य में अलंकारों को प्रथम स्थान देने वाले व्यक्ति हैं। हिन्दी कवि केशव तो मध्य युग में भी :

भूषण बिना न सोहई कविता बनिता भिन्न ।

को ही उचित मानते रहे।

वास्तव में, काव्य में अलंकारों को साध्य मानने वाले और अस्थिर धर्म मानने वाले दोनों आचार्य सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं। न तो अलंकार साध्य हैं और न ही काव्य के अस्थिर धर्म हैं। दोनों विचार अपने-अपने मत का अतिवाद हैं।

नीचे हम दोनों मतों का विवेचन करेंगे।

सर्वप्रथम अलंकारवादियों के विचार को ही लेते हैं। अलंकारवादियों ने जब अलंकार मत की स्थापना की उस समय तक रस को सर्वमान्य प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी। रस भी साहित्यों का एक अंग-सिद्धान्त था। आत्मा का पद अभी प्राप्त नहीं किया था। दूसरी शब्दावली में साहित्य की आत्मा की खोज अभी नहीं हो पाई थी। आचार्यगण देह में ही आत्मा को खोज रहे थे या देहवादी थे, आत्मवादी नहीं।

दूसरे अलंकारवादियों ने अलंकार मत की स्थापना करते समय यह ध्यान नहीं रखा कि अलंकार ही काव्य के मूलभूत प्राण हैं अथवा नहीं। वे अलंकारवाद को मतवाद के कारण अति की सीमा तक ले गये थे। इसी अति के कारण वे अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं कर सके। अलंकारवादी आचार्य साहित्य के सभी तत्व अंगों को अलंकार मानकर ही चलते रहे हैं। इनके द्वारा ऐसा मानने का कारण इनका देहवादी होना ही है और अपने मत का ही व्यापक बनाने के लिए ऐसा हुआ है।

इनकी यह भूल बाद में रसवादियों या ध्वनिवादियों ने दूर की। उन्होंने ही सर्वप्रथम अलंकार और अलंकार्य के भेद को स्पष्ट किया।

इससे स्पष्ट है कि अलंकार सम्प्रदाय साहित्य का अंग सिद्धान्त तो है। किन्तु मुख्य अथवा सर्वप्रधान साहित्य सिद्धान्त नहीं।

अब रही रस-सम्प्रदाय अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय की बात। ये दोनों सम्प्रदाय काव्य-पुरुष की आत्मा से सम्बन्धित या आत्मा ही हैं। इसी कारण इस सम्प्रदाय वालों की दृष्टि इतनी संकुचित हो गई है कि वे आत्मा को सर्वाधिक महत्व देने लग पड़े और देह को भूल गये। यह दृष्टिकोण भी एकांगी बन गया। आत्मा और देह को किसी प्रकार भी पृथक् नहीं किया जा सकता। आत्मा का शरीर में मुख्य स्थान है, किन्तु देह का या उसके अंगों का अपना महत्व है। देह के बिना आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं रहता। वायुमण्डल में चाहे अस्तित्व बना रहे काव्य-पुरुष के आत्मरूप में नहीं। दूसरी ओर देह-एकांगी आत्मा से हीन, निर्जीव निष्प्राण है। उसका महत्व भौतिकवादी या देहवादी के लिए भी कोई नहीं होना चाहिए। अतः रसवादी या आत्मवादी

भी अपने दृष्टिकोण को औचित्य के अधीन नहीं रख सके।

यहाँ रसवादियों ने अलंकारों को कनककुण्डलादिवत् लिखा है यह मत भी रूपक बाँधने की दृष्टि से तो श्लाघनीय है, किन्तु तथ्य के उलट है। कनक-कुण्डल तो शरीर से पृथक् भी किये जा सकते हैं। क्या अलंकार भी (शब्दालंकारों को छोड़कर) काव्य के शरीर से उतारे जा सकते हैं? हर समझदार मनुष्य का यही उत्तर होगा—नहीं। यह उत्तर तात्त्विक दृष्टि से संगत है। अतः अलंकार काव्य पुरुष के कनककुण्डल आदि नहीं कहे जाने चाहिए। देहवाद के आधार पर अलंकार, शरीर का वनाव, अंगों की काँट-छाँट, मुख की मनोरम आकृति आदि तो कहे जा सकते हैं, कहे भी जाने चाहिए। देहवाद की दृष्टि से यही तथ्यपूर्ण विचार है। कनककुण्डल मानना स्थूल कलाहीन दृष्टिकोण है। इस प्रकार अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म कभी नहीं कहे जा सके।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार साध्य भी नहीं क्योंकि वे काव्य की आत्मा नहीं—स्थूल शब्दावली में विषय नहीं और अस्थिर धर्म भी नहीं क्योंकि वे देह के अंग हैं, सोने के गहने या भूषण नहीं।

इस सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त अब हम अलंकारों के महत्व या स्वरूप के विवेचन पर आते हैं।

अलंकार का अर्थ है—आभूषण अर्थात् गहना। पारिभाषिक शब्दावली में—“काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते” अर्थात् ‘काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म का नाम अलंकार है’। मम्मट के शब्दों में ‘अलंकरोति-इति अलंकारः’ अर्थात् ‘जो अलंकृत करे वह अलंकार है’। इन परिभाषाओं के आधार पर अलंकार काव्य उत्कर्ष विधायक हैं। काव्य का मूलभूत आधार भाव-जगत् है। काव्य का सारा ढाँचा भावों पर खड़ा है। जिसमें भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं होती वह काव्य काव्य न होकर शब्दों का या बुद्धि का खिल-वाड़ ही माना जायगा। उसे काव्य की संज्ञा देना काव्य के साथ अन्याय करना है। इस प्रकार इसी मूलभाव तत्त्व के उत्कर्ष विधायक हैं।

अलंकारों के द्वारा काव्यगत भाव अधिक उत्कर्षपूर्ण बन जाता है। जैसे यदि दुख की अभिव्यक्ति के लिए इतना ही कहा जाय कि, “मैं अत्यधिक दुखी हूँ” तो भाव निर्जीव ही माना जायगा किन्तु यदि कोई “दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है” लिखा जाय तो दुख के प्रभाव का स्पष्ट और पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय यह कि अलंकार काव्य में युक्ति का काम देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी तो युक्ति को ही अलंकार की संज्ञा देते थे। हमने ऊपर लिखा है कि अलंकार भावोत्कर्षक है। यह बात ग्रामीण कहा-

वतों, लोकोक्तियों द्वारा भी सिद्ध हो जाती है। गाँव का अनपढ़ व्यक्ति भी अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए युक्ति का सहारा लेता है जैसे— 'घोड़ा और फोड़ा हाथ फेरने से बढ़ता है, राम और गाँव जो करता सो होता है।'

इसमें अनपढ़ व्यक्ति ने हाथ फेरने से फोड़े के बढ़ने की बात को घोड़े की युक्ति द्वारा अधिक स्पष्ट तथा प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है। दूसरे पद में राम और गाँव की युक्ति में यही तर्क है। इस प्रकार अलंकार शब्द से अनभिज्ञ, अनपढ़ व्यक्ति भी अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए युक्ति का सहारा लेता है और ऐसा करने से भाव भी अधिक प्रभावशाली तथा व्यंजक बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि अलंकार काव्य के उत्कर्ष विधायक है। किन्तु वे प्रयत्न न लाकर प्रकृतिसिद्ध लाने चाहिए। प्रयत्न से किया गया अलंकार विधान काव्य के सौन्दर्य को विकृत कर देता है, कविता अलंकारों की हाट बनकर रह जाती है। काव्य-तत्त्व या काव्य का प्राण लुप्त हो जाता है। अलंकारवादी केशव का काव्य इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है।

हाँ ! अलंकार प्रयत्न से न लाये जाएं किन्तु अलंकार-सामग्री का व्यापक गम्भीर अर्थव्यंजक ज्ञान होना कवि के लिए अधिक आवश्यक है। जिन कवियों ने अलंकार-सामग्री प्रकृति का तथा भौतिक सामग्री का अधिक अर्थपूर्ण अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त किया है वे काव्य में, अलंकार प्रयोग में अधिक सफल रहे हैं। महाकवि कालिदास का उदाहरण आपके सामने 'उपमा कालिदासस्य' सिद्धान्त वाक्य से इसका परिचायक है।

इस सामग्री का अध्ययन करते समय भाव या उसके तादात्म्य भी देखना होगा। यही नहीं प्रकृति के बाह्य रूप के साथ उसकी आत्मा में भी प्रवेश करना होगा। उसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कर्म, प्रत्येक परिवर्तन को भी दृष्टि में रखना होगा फिर ही वह अलंकार-रूप में काव्य का उत्कर्ष विधान कर सकती है नहीं तो कवि भाव को जड़, निर्जीव बना डालेगा। उसका काव्य अनपढ़ की उक्ति से भी निम्न कोटि का बन जायगा। यही नहीं, अनपढ़ की उक्ति से उसकी तुलना करना काव्य-कला के प्रति ही अन्याय होगा क्योंकि अनपढ़ की उक्ति फिर भी काव्य के अधिक समीप है।

सारांश यह कि अलंकार प्रयोग अलंकार शास्त्र कण्ठस्थ करने की अपेक्षा प्रकृति अध्ययन पर अधिक निर्भर है। वह काव्य का उत्कर्ष-विधायक ही अस्थिर धर्म न होकर देह के चर्मवत् है।

भारतीय आचार्यों ने अलंकार-विभाजन अर्थ तथा शब्द को मुख्य रख कर किया है। अर्थ के आधार पर विभाजन निम्न प्रकार है :

१. साम्यमूलक, उपमा, रूपक, सन्देह आदि ।
२. विरोधमूलक, विरोधाभास, विभाग आदि ।
३. शृंखलामूलक, कारणमाला, सार आदि ।
४. अन्य संसर्गमूलक, काव्यलिङ्ग, तद्गुण आदि ।
५. गूढार्थ प्रतीति मूलक, व्याजोक्ति, अत्युक्ति आदि ।

शब्द के आधार पर कोई वर्गीकरण नहीं किया । अलंकारों की संख्या भी निश्चित नहीं । क्योंकि नित्यप्रति मौलिक प्रतिभासम्पन्न कवि नये-नये अभिव्यंजना-प्रकारों को जन्म देता है । अतः अलंकारों की संख्या भी नित्यप्रति बढ़ती रहती है ।

शब्दालंकार

शब्दालंकार : जो अलंकार शब्द, के नाद सौंदर्य पर आधारित हों उन्हें शब्दालंकार कहते हैं। शब्दालंकार में शब्द-सौंदर्य होता है। यह सौंदर्य अत्यन्त देहवादी है। अर्थालंकारों के अर्थ-सौंदर्य की अपेक्षा निम्नकोटि का है इसीलिए आचार्यों ने उसे अधम काव्य के अन्तरगत माना है। साधारण पाठक इस अलंकार को अधिक उत्सुकता से सुनते हैं। हम यहाँ मुख्य-मुख्य शब्दालंकारों का विवेचन करेंगे।

शब्दालंकार

अनुप्रास : अनु (पीछे) प्रास (प्रकृष्ट वर्णों का सन्निवेश) दो शब्दों के मेल से अनुप्रास शब्द बना है। जिसकी परिभाषा इस प्रकार है :—‘वर्णसाम्यमनुप्रासः’ अर्थात् ‘वर्णसाम्य अनुप्रास है’ जहाँ एक या अनेक वर्णों की एक से अधिक बार आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरण :

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये ।

इस पद में त की पाँच बार आवृत्ति हुई है अतः यहाँ अनुप्रास अलंकार का आभास होता है।

अन्य उदाहरण :

चारू चन्द्रश की चंचल किरणें खेल रही हैं जल थल में ।

इस काव्य पंक्ति में च की आवृत्ति है।

यमक : यमक शब्द का अर्थ है ‘जोड़ा’। जहाँ एक शब्द दो बार प्रयुक्त हो और अर्थ उसका भिन्न हो वहाँ यमक अलंकार होता है।

उदाहरण :

कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय ।

यहाँ कनक शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है किन्तु अर्थ उसका भिन्न-भिन्न

है। पहले का अर्थ सोना (स्वर्ण) दूसरे का अर्थ धतूरा है। अतः यमक अलंकार है।

श्लेष : जब एक शब्द के एक से अधिक अर्थ निकलें तब श्लेष अलंकार होता है।

उदाहरण :

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।

बारे उजियारो करे, बड़े अंधेरो होय ॥

इसमें बारे और बड़े के दो अर्थ हैं।

बारे : १. जलाने पर २. वचन में।

बड़े : १. बुझ जाने पर २. बड़ा होने पर।

वक्रोक्ति : जहाँ किसी उक्त का अर्थ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझ लिया जाए वहाँ वक्रोक्ति अर्थ होता है।

उदाहरण :

को तुम ? हरि प्यारी ! कहा वानर को पुरकाम ?

श्याम सलोनी ? श्याम कपि क्यों न डरे तब वाम।

यहाँ श्रोता ने हरि का अर्थ वानर और श्याम का अर्थ श्याम वानर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझ लिया है। अतः यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है।

काकु वक्रोक्ति : कंठ की विकृत ध्वनि से जहाँ अन्य अर्थ समझ लिया जाये वहाँ काकु वक्रोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण :

राम साधु, तुम साधु सयाने।

राम मातु भलि, सब पहिचाने।

राम साधु हैं, तुम साधु हो राम की माता भी साधु है। इससे उसका अभिप्राय है कि तुम सब खोटे हो।

अर्थालंकार

उपमा : जहाँ उपमेय और उपमान का सादृश्य सम्बन्ध प्रकट किया जाये वहाँ 'उपमा' अलंकार होता है।

उदाहरण :

हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोड़ी एक निष्ठुर नाग सी।

यहाँ उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं।

१. उपमेय : शक्ति,

२. उपमान : नाग,
३. वाचक शब्द : सी,
४. साधारण धर्म : निष्ठुर ।

यहाँ उपमेय उपमान का सदृश्य सम्बन्ध दिखाये जाने से उपमा अलंकार बनता है ।

संस्कृत आलोचना या अलंकार शास्त्र में उपमा के अनेकों भेद-प्रभेद हैं । किन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ उनका वर्णन करना असम्भव है । उपमेयोपमा तथा अनन्वयोपमा का वर्णन दिया जाता है ।

उपमेयोपमा : जहाँ उपमेय और उपमान को परस्पर उपमान और उपमेय बना दिया जाये वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है ।

उदाहरण :

‘वे तुम सम, तुम उन सम स्वामी ।’

यहाँ पहले वे उपमेय और तुम उपमान किन्तु चरण के उत्तर भाग में तुम उपमेय और वे उपमान बन गया है ।

अनन्वयोपमा : जहाँ उपमेय उपमान एक हो वहाँ अनन्वयोपमा अलंकार होता है ।

उदाहरण :

कवि-कोविन्द-वृंद बखान रहे
सबका अनुभूत यही मत है ।
उपमान विहीन रचा विधि ने
बस भारत के सम भारत है ॥

यहाँ भारत ही उपमेय है और भारत ही उपमान है अतः अनन्वयोपमा अलंकार है ।

प्रतीप : जहाँ उपमान को उपमेय की अपेक्षा घटाकर वर्णन किया जाये अथवा अवर्ण्य उपमेय और वर्ण्य उपमान हो, प्रतीप अलंकार होता है ।

उदाहरण

गरव करति कत चाँदनी, हीरक छोर समान ।

फँली इती समाजगत, कीरति सिवा खुमान ।

यहाँ उपमान (अवर्ण्य) चाँदनी को उपमेय (वर्ण्य) मानकर कीरति द्वारा (उपमेय) तिरस्कार किया गया है । अतः प्रतीप अलंकार है ।

रूपक : जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान का आरोप किया जाये, वहाँ रूपक अलंकार होता है । रूपक में आरोप का भाव रहता है । संस्कृत

में, नट में रामादि का आरूप करने के कारण नाटक को रूपक कहा गया है।

उदाहरण :

वाडव ज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिंधु के तल में।

प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में ॥

यहाँ वाडव में ज्वाला का, प्रणय में सिंधु का आरोप है अतः रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा : जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाये वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उदाहरण :

कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये।

हिमकणों से पूर्ण मानो हो गये—पंकज नये ॥

यहाँ उत्तरा के नेत्रों में (उपमेय) में (उपमान) पंकज की सम्भावना की गई है अतः उत्प्रेक्षा अलंकार है।

हेतुप्रेक्षा : जहाँ अहेतु में हेतु की सम्भावना की जाये वहाँ हेतुप्रेक्षा अलंकार होता है।

उदाहरण :

“मनो चली आँगन कठिन—ताते राते पाय।”

यहाँ नायिका के पाँव लाल होने के कारण कठिन आँगन पर चलना बताया गया है, जो वास्तविक हेतु नहीं, लाली स्वतः है अतः अहेतु में हेतु की सम्भावना करने के कारण हेतुप्रेक्षा अलंकार है।

अपह्नुति : जहाँ उपमेय का निषेध कर उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाये वहाँ—अपह्नुति अलंकार होता है।

अपह्नुति का अर्थ है, छुपाना या निषेध करना। इस प्रकार प्रकट होती बात को छिपाकर अन्य बात कह देना अपह्नुति है।

उदाहरण :

हिये लाल के चुभत ही, बेसुधि किये निदान।

मनमथ के सर बान नहि, तिय दृग तीक्ष्ण बान।

यहाँ नायिका लाल-प्रियतम के हृदय में चुभने वाले मनमथ के बाणों का वर्णन कर रही थी, किन्तु बीच में ही उसको छुपाकर मनमथ के तीरों के स्थान पर तिय के दृग तीक्ष्ण बाणों की बात कह दी है। अतः अपह्नुति अलंकार है।

उल्लेख : जब वर्ण्य-विषय का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाये तब उल्लेख अलंकार होता है।

उदाहरण :

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त-भाव में लीन ।
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन ।
दलित भारत की विधवा है ।

यहाँ कवि ने विधवा का अनेक प्रकार से वर्णन किया है अतः उल्लेख अलंकार है ।

स्मरण : पूर्व अनुभूत वस्तु के सदृश किसी वस्तु को देखकर, मुनकर उसको स्मृति हो आये वहाँ स्मरण अलंकार होता है ।

उदाहरण :

छू बेती है मृदुपवन जो पास आ गात मेरा ।
तो हो जाती परम सुधि है श्याम प्यारे करों की ॥

यहाँ पूर्व अनुभूत श्याम के करों की, पवन के स्पर्श से स्मृति हो आई है अतः स्मरण अलंकार है ।

भ्रान्तिमान : सादृश्य के कारण जब किसी वस्तु को अन्य वस्तु समझ लिया जाये वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है ।

इसमें अन्य वस्तु ज्ञान मिथ्या होता है ।

नाक का मोती अघर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से ।
देख कर उसको हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ॥

यहाँ शुक ने भ्रमवश नाक के मोती को दाड़िम का बीज समझ लिया है इसलिए भ्रान्तिमान अलंकार है ।

सन्देह : सादृश्य के कारण जब किसी वस्तु के बारे में दुविधा उत्पन्न हो जाये कि यह वह है या अन्य तब सन्देह अलंकार होता है ।

इसमें वस्तु का निश्चय नहीं होता ।

उदाहरण :

निद्रा के उस असलित वन में,
वह क्या भावी की छाया ।
दृग् पलकों में विचर रही,
या वन्य देवियों की माया ॥

यहाँ भावी की छाया या वन्य देवियों की माया में से एक का निश्चय नहीं हो रहा है इसलिए अनिश्चय के कारण सन्देह अलंकार है ।

अतिशयोक्ति : जहाँ प्रस्तुत वस्तु (उपमेय) का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाये ।

उदाहरण :

देख लो साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही ।
केतु पट अंचल सदृश हैं उड़ रहे,
कनक-कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे ॥

यहाँ साकेत नगरी का स्वर्ग से मिलने के लिए जाना वर्णित है, कवि ने बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है अतः अतिशयोक्ति अलंकार है ।

अतिशयोक्ति के अन्य अनेक भेद हैं । यहाँ स्थानाभाव के कारण उन सब का वर्णन असम्भव है ।

तुल्ययोगिता : जहाँ केवल उपमेयों का या उपमानों का एकधर्म प्रतिपादित किया जाये वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होता है ।

उदाहरण :

एक बेर जिन जिन लखे तेरे लोचन चाहि ।

नीके लागत मीन मृग खंजन कंज न ताहि ॥

यहाँ मीन मृग खंजन तीनों उपमान हैं उनका एक ही धर्म 'नीके लागत' वर्णित किया गया है अतः तुल्ययोगिता है ।

दीपक : जब उपमेय उपमान दोनों का एक धर्म बताया जाये तब दीपक अलंकार होता है ।

उदाहरण :

सोहत भूमिपति दान सों फल फूलन आराम ।

भूमिपति राजा दान से तथा उपवन फल और फूलों से सोहता है । यहाँ 'शोभित होना' भूपति उपमेय का और आराम उपमान का एक धर्म प्रकट किया गया है अतः दीपक अलंकार है ।

प्रतिवस्तूपमा : जहाँ उपमेय और उपमान सम्बन्धी दो भिन्न-भिन्न वाक्यों में समानार्थक शब्दों द्वारा एक ही धर्म प्रकट किया जाए ।

उदाहरण :

मुस्कराकर राग मधुमय वह लुटाता पी तिमिर बिष ।

औसुओं की क्षार पी में बाँटती नित स्नेह रस ॥

इन दो वाक्यों में 'लुटाता' और 'बाँटती' इन दो समानार्थक शब्दों द्वारा एक धर्म प्रकट किया गया है अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

दृष्टान्त : जहाँ दो उपमेय-उपमान वाक्यों का साधारण धर्म भिन्न होने पर भी भावसाम्य या विम्ब-प्रतिविम्ब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।
उदाहरण :

पापी मनुज भी आज मुख से रामनाम निकालते।

देखो भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते ॥

यहाँ पहला वाक्य उपमेय और दूसरा वाक्य उपमान है। 'पापी मनुज भी मुख से रामनाम निकालते हैं' भयंकर भेड़िये आँसू डालते हैं, में भाव साम्य है अतः दृष्टान्त अलंकार है।

निदर्शना : जहाँ उपमेय वाक्य पर उपमान वाक्य का आरोप किया जाए वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

उदाहरण :

कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गवि भूमि पे डारिबो है।

महामूर्ख को कविता समझाना उपमेय वाक्य है। सूर्य को धरती पर लाकर पटकना उपमान वाक्य है। यहाँ पहले वाक्य पर दूसरे वाक्य का आरोप है अतः निदर्शना अलंकार है।

व्यतिरेक : जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिक उत्कर्ष बताया जाए।

उदाहरण :

राधामुख को चन्द्र-सा कहते हैं मतिरंक।

निष्कलंक है वह सदा उसमें प्रकट कलंक ॥

यह राधामुख उपमेय और चाँद उपमान है। राधामुख को निष्कलंक तथा चन्द्रमा को कलंकयुक्त कहकर उपमेय का उत्कर्ष प्रकट किया गया है अतः व्यतिरेक अलंकार है।

अप्रस्तुतप्रशंसा : जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को व्यक्त किया जाए वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है।

उदाहरण :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।

अली कली ही सों बिधियो आगे कौन हवाल ॥

यहाँ अप्रस्तुत भीरे और कली का वर्णन है। इसके साथ प्रस्तुत जयसिंह और उसकी नवोढा पत्नी का वर्णन किया गया है। अप्रस्तुत वर्णन के द्वारा

प्रस्तुत वर्णन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।

विरोधमूलक अलंकार

विरोधाभास : जहाँ विरोध न होते हुए भी विरोध का आभास या प्रतीति हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है ।

उदाहरण :

नैन लगे जब से सखी, तब से लगत न नैन ।

यहाँ 'नैन लगे' और 'लगत न नैन' में परस्पर विरोध है किन्तु विरोध है नहीं क्योंकि एक नायिका अपनी सखी से कह रही है कि जब से नैन लगे हैं—प्रेम हुआ है 'नैन नहीं लगते'—नींद नहीं आती । अतः विरोधाभास अलंकार है ।

विभावना : जहाँ कारण के अभाव में कार्य हो वहाँ विभावना अलंकार होता है ।

उदाहरण :

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर ।

यहाँ बिना पावस (बिना कारण) मोरों का नाचना (कार्य) सम्पन्न हुआ है । अतः विभावना अलंकार है ।

विशेषोक्ति : जहाँ कारण के होते हुए भी कार्य नहीं वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है ।

उदाहरण :

देखो दो दो मेघ बरसते

में प्यासी की प्यासी ।

यहाँ कारण मेघ विद्यमान है पर कार्य प्यास बुझाना नहीं है । अतः कारण के होते हुए कार्य के न होने के कारण विशेषोक्ति अलंकार है ।

असंगति : जहाँ कारण और कार्य भिन्न-भिन्न स्थान पर हों ।

उदाहरण :

पीली मधु मदिरा किसने

की बन्द हमारी पलकें ।

यहाँ मदिरा किसी ने पी है । पलकें हमारी बन्द हो रही हैं । कारण तथा कार्य दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं । अतः असंगति अलंकार है ।

शृङ्खलामूलक अलंकार

कारणमाला : जहाँ एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कारण-कार्य

सम्बन्ध जुड़ता चला जाए और कार्य अगली वस्तु का कारण बन जाए वहाँ कारणमाला अलंकार होता है ।

उदाहरण :

विद्या के बिन विनय नहीं, ता बिन नर न सुपात्र ।

बिन सुपात्रता धन नहीं ता बिन धर्म न गात्र ॥

यहाँ विद्या कारण और विनय कार्य है । फिर विनय कारण और सुपात्र कार्य, पुनः सुपात्र कारण और धर्म कार्य । इस प्रकार वहाँ कारण-कार्य की शृंखला या माला होने के कारण कारणमाला अलंकार है ।

सार : जहाँ पूर्व वस्तु उत्तर वस्तु की अपेक्षा उत्कर्षपूर्ण हो वहाँ सार अलंकार होता है ।

उदाहरण :

सिला कठोरी काठ तें तातें लोह कठोर ।

ताहू ते कीन्हौ कठिन मन नुव नन्दकिशोर ॥

यहाँ शिला काठ से कठोर है, काठ से लोहा, लोहे से कृष्ण का मन कठोर है । अतः—सार अलंकार है ।

काव्य संसर्गमूलक अलंकार

परिवृति : जहाँ किसी को कोई वस्तु देकर कोई वस्तु ली जाय वहाँ परिवृति अलंकार होता है ।

उदाहरण :

लतिकाओं को नृत्यकला की शिक्षा देकर धीग समोर ।

मधुर मधुर ले रहा जहाँ पर सुमनगंध उनका गंभीर ॥

यहाँ वायु लताओं को नृत्यकला की शिक्षा देकर बदले में सुमन मधुर गंध ले रहा है अदला-बदली के कारण परिवृति अलंकार है ।

काव्यलिंग : जहाँ समर्थन करने योग्य किसी अर्थ का समर्थन किया जाए वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है ।

उदाहरण :

रहिमन चुप है बंठिये, देखि दिनन को फेरि ।

जब नीके दिन आइ है, बनत न लागि है बेरि ॥

मनुष्य को विपत्ति के समय चुप होकर नहीं बैठना चाहिए क्योंकि अच्छे दिन आने पर बनते देर नहीं लगेगी । समर्थन के कारण यहाँ काव्यलिंग अलंकार है ।

अर्थान्तरन्यास : जहाँ सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाए वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ।

उदाहरण :

निर्वासित थे राम राज्य था कनन में भी ।

सच ही है श्रीमान् भोगते सुख वन में भी ॥

‘राम का निर्वासित होकर वन में जाना’ विशेष बात है उसका समर्थन ‘श्रीमान् वन में भी सुख भोगते हैं’ । इसका सामान्य बात से किया गया है । इस-लिए यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

उदाहरण :

तदगुण : जहाँ अपना गुण छोड़कर दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण का वर्णन हो वहाँ तदगुण अलंकार होता है ।

अधर धरत हरि के परत, ओंठ डीठ पट-उपोति ।

हरित बांस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष छुति होति ॥

यहाँ कृष्ण की हरित बाँस को बाँसुरी ने अपना रंग छोड़कर इन्द्र धनुष के रंग को ग्रहण कर लिया है इसलिए यहाँ तदगुण अलंकार है ।

गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार

सूक्ष्म अलंकार : कही दूसरे का किया हुआ कोई सूक्ष्म कृत्य संकेत या चेष्टा देखकर कोई व्यक्ति संकेत से ही उसका उत्तर देता है वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ।

बिनय प्रेम बस भई भवानी ।

खसी माल मूरति मुसकानी ॥

स्वभावोक्ति : किसी वस्तु का जाति-ग्रहस्था के अनुकूल वर्णन करने को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं ।

उदाहरण :

भेद उसने कौन से खोले नहीं ।

कौन सी बातें नहीं उसने कहीं ॥

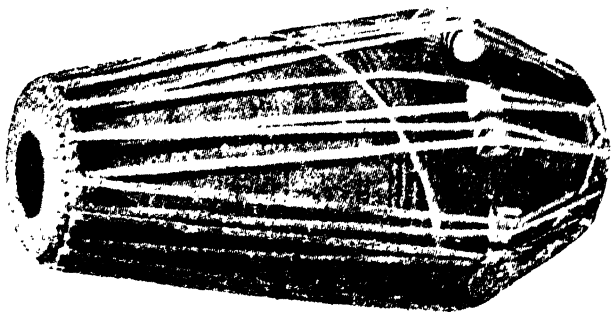
दिल नहीं उसने टटोले कौन से ।

घुल गया कवि किस कलेजे में नहीं ॥

इन पाँचों भेदों के अतिरिक्त अर्थात् शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों के साथ उपमालंकार भी हैं जो पूर्व शब्द अर्थ अलंकारों के संजोग से ही बने हैं ।



ना ट क
तथा
ना ट्य सि द्धा न्त



भारत में नाटक का उद्भव तथा विकास

भारत में नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में बहुत-सा विचारविमर्श हो चुका है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। जिनका अभिलेख हम आगे चल कर करेंगे। किन्तु नाटक के एक मूल स्रोत के सम्बन्ध में आज तक कोई संकेत नहीं किया गया। आर्यों के आगमन से पूर्व जो द्राविड़ सभ्यता हमारे देश में व्याप्त हो रही थी, उसकी अपनी उपलब्धि थी जिनको मूल आधार बनाकर कबीलेदार आर्यों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण किया। आर्य लोग जब भारत में आये तो वे अभी पशुपालन आदेर कर्म एवं पारिवारिक सभ्यता में विचर रहे थे। श्री डांगे के अनुसार यह प्रागैतिहासिक साम्यवाद (Primitive Communism) को जन्म दे रहे थे। वे अपने मूल निवास स्थान से मिकन्दर के समान विश्वविजेता बनने के लिए नहीं आए थे। वे भूख के उत्पीड़न के कारण अपने घरबार छोड़कर संसार के भिन्न-भिन्न भागों की ओर चल पड़े थे। वे जिस जिस देश में गए, उन्होंने वहाँ की संस्कृति के मूल आधार पर अपनी संस्कृति का भवन निर्मित किया।

द्राविड़ सभ्यता के निर्माता उस समय पत्थर युग को पार कर धातु काल की उपलब्धि कर रहे थे। उनके पुगने ध्वंसावशेष में से भवन निर्माण कला के सुचारु नमूने प्राप्त होते हैं। वे ग्रामीण सभ्यता से नगर सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे। और उनके नगरों के नमूने हमारे आधुनिक नगरों जैसे ही हैं। ऐसी सभ्य जाति कलात्मक आमोद-प्रमोद से वंचित नहीं रह सकती थी। इस रुचि का किंचितमात्र अनुभव उस युग की उपलब्ध नाच-मूर्तियों तथा स्त्रियों के आभूषणों से लगाया जा सकता है। उनके घरों, बाजारों और गलियों की बनावट तथा लिपि का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वे एक सुबोध (Rational) मनुष्य थे। मनुष्य के अंगों में एक स्वतःसिद्ध नृत्य करने की आरम्भिक रुचि है। आनन्द भाव में आया मनुष्य मुक्त नृत्य के एक प्रवाह में प्रवाहित हो जाता है। यह आन्तरिक हार्दिक आनन्द आदिकालीन मनुष्य को एक पशु के समान नृत्यमग्न कर देती थी। यह मुक्त नृत्य बाद में एक कोमल कला

भारत में नाटक का उद्भव तथा विकास

भारत में नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में बहुत-सा विचारविमर्श हो चुका है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। जिनका अभिलेख हम आगे चल कर करेंगे। किन्तु नाटक के एक मूल स्रोत के सम्बन्ध में आज तक कोई संकेत नहीं किया गया। आर्यों के आगमन से पूर्व जो द्राविड़ सभ्यता हमारे देश में व्याप्त हो रही थी, उसकी अपनी उपलब्धियाँ थीं जिनको मूल आधार बनाकर कबीलेदार आर्यों ने अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण किया। आर्य लोग जब भारत में आये तो वे अभी पशुपालन आदेर कर्म एवं पारिवारिक सभ्यता में विचर रहे थे। श्री डांगे के अनुसार यह प्रागैतिहासिक साम्यवाद (Primitive Communism) को जन्म दे रहे थे। वे अपने मूल निवास स्थान से सिकन्दर के समान विश्वविजेता बनने के लिए नहीं आए थे। वे भूख के उत्पीड़न के कारण अपने घरबार छोड़कर संसार के भिन्न-भिन्न भागों की ओर चल पड़े थे। वे जिस जिस देश में गए, उन्होंने वहाँ की संस्कृति के मूल आधार पर अपनी संस्कृति का भवन निर्मित किया।

द्राविड़ सभ्यता के निर्माता उस समय पत्थर युग को पार कर धातु काल की उपलब्धि कर रहे थे। उनके पुराने ध्वंसावशेष में से भवन निर्माण कला के सुचारु नमूने प्राप्त होते हैं। वे ग्रामीण सभ्यता से नगर सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे। और उनके नगरों के नमूने हमारे आधुनिक नगरों जैसे ही हैं। ऐसी सभ्य जाति कलात्मक आमोद-प्रमोद से वंचित नहीं रह सकती थी। इस रुचि का किंचितमात्र अनुभव उस युग की उपलब्ध नाच-मूर्तियों तथा स्त्रियों के आभूषणों से लगाया जा सकता है। उनके घरों, बाजारों और गलियों की बनावट तथा लिपि का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि वे एक सुबोध (Rational) मनुष्य थे। मनुष्य के अंगों में एक स्वतःसिद्ध नृत्य करने की आरम्भिक रुचि है। आनन्द भावेश में आया मनुष्य मुक्त नृत्य के एक प्रवाह में प्रवाहित हो जाता है। यह आन्तरिक हार्दिक आनन्द आदिकालीन मनुष्य को एक पशु के समान नृतमग्न कर देती थी। यह मुक्त नृत्य बाद में एक कोमल कला

का रूप धारण कर गया और व्यवितगत रूप की अपेक्षा इसका सामूहिक रूप अधिक प्रधान हो गया ।

इस कला विकास के साथ साथ हमारे पूर्व आर्य लोगों में शक्तिपूजा का युग विकास करता गया । उस समय का मानव अभी अनन्य विश्वास में लीन था । और जब वह बहु-प्राकृतिक शक्तियों को मानव की अपनेआप ही सहायता करता देखता तो उनके प्रति भय, सत्कार और पूजा की भावना उत्पन्न हो जाती थी । और इन शक्तियों की पूजा भिन्न-भिन्न रूपों में की जाती थी । इन शक्ति प्रतीकों के सम्मुख वे लोक नृत्य का सामूहिक रूप नाचते हैं । गीत गाते और बोल चढ़ाते थे । इसी शक्ति पूजा से ही नाटक का आरम्भिक रूप-यात्रा-नाट्य उत्पन्न हुआ ।

भारत में नाटक का मूल रूप यात्राएँ ही हैं । ये यात्राएँ वास्तव में शक्ति निधनों के जलूसों में निकाली जाती हैं । यात्राएँ एक प्रकार का धार्मिक जलूस हैं । (जैसा कि सिख लोक अपने श्री गुरु ग्रन्थ साहिब तथा जैसे जैनी लोक श्री महावीर की मूर्ति का आजकल भी धार्मिक जलूस निकालते हैं) ये जलूस शक्ति को रिझाने के लिए उसकी कृपा के धन्यवाद के रूप अथवा उसके करोप के समय प्रार्थना के कारण निकाले जाते थे । शक्ति यात्राओं के साथ-साथ महा-पुरुषों तथा वीरों, योद्धाओं की गाथाओं को भी नवीन रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा । यात्रा इसको इसलिए कहते थे कि इस समय भिन्न-भिन्न नाटकीय दृश्यों का जलूस बनाया जाता था । सबसे आगे शक्ति का चिह्न रूप होता था और उसके पीछे भिन्न-भिन्न भाँकियाँ तैयार की जाती थी । उस समय तक उनको नाटक का ज्ञान नहीं हुआ था । इसलिए विशेष दृश्य ही जलूस में एकत्रित किये जाते थे । इन यात्राओं का नगर-कीर्तन कराया जाता था । और कभी-कभी ये यात्राएँ आसपास के नगरों में भी घूम आती थी । लोक इन निर्लेप कलाकारों की मुक्त मन से सहायता करते थे ।

शिव द्राविड़ संस्कृति का एक महान शक्ति चिह्न था । जो दया तथा कल्याण का पुंज था । इसी प्रकार माँ काली का संकल्प भी पूर्व-आर्य लोगों का था । आर्य जाति ने एकमात्र अपनी संस्कृति का ही प्रसार नहीं किया अपितु पूर्व संस्कृति की अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ भी उन्होंने अपना लीं । आर्य लोकों ने शिव की महानता के आन्तरिक कल्याणकारी भावों के प्रभाव के अधीन उसे भगवान रूप मान लिया और वह विष्णु ब्रह्मा की तुलना में तीसरा रचनहार माना जाने लगा । आज भी भारत में अधिक मन्दिर शिव के ही हैं । शिव बुद्धि और कल्याण का चिह्न था । इसके शिर से गंगा निकलने का प्रतीक यह व्यक्त करता है कि इस

देवता के साथ जल तथा कृषि का सम्बन्ध था। शिव का तीसरा नेत्र बौद्धिकता का चिह्न था। इसी शक्ति में नृत्य का अस्तित्व कला-उपासना का परिचायक है। शिव शंकर भोले को विपरीत नागों की कोई चिन्ता नहीं। धरती के दुखों के समय माना पार्वती उनको सावधान करा देती है। शिव की उपासना करने वाली जाति कोई निष्कृष्ट संस्कृति की स्वामिनी नहीं थी किन्तु प्रत्येक आक्रमणकारी की भाँति आर्य वर्ग ने उनको नीचा दिखाने का अत्यन्त यत्न किया। उनको संस्कृति के महान् अंगों को अपनाकर भी समस्त जाति को शूद्र कहकर ठुकरा दिया।

शूद्र बनकर भी इन लोगों ने अपनी परम्पराओं को अपनाए रखा। इनके सांस्कृतिक प्रभाव तथा इतिहास से प्रभावित होकर आर्य लोगों ने भी इस यात्रा-परम्परा को अपना लिया। वैदिक काल में भी इन यात्राओं के प्रमाण उपलब्ध होने हैं। इसके बारे में श्री ड० पी० हारविट्स के विचार हमारे विचार की पुष्टि करने हैं—

“Even the Vedic age knew Jatras, memorable heirloom of Aryan antiquity the gods of Rig Veda were hymned in choral Procession. Some of the Sam Veda hymns reached the rude mirth of the primitive Jatra dances.”

—The Indian Theatre, p. 178.

भारत के प्रागैतिहासिक साम्यवादी युग, (Primitive Communist Age) से ये यात्राएँ देवी देवताओं, वीरों योधाओं एवं शक्ति चिह्नों के सम्मान की दृष्टि से निकाली जाती रही हैं। और यह प्रथा आज भी बीसवीं सदी के युग में देखी जाती है। दशहरे के समय अमृतसर, दिल्ली तथा कलकत्ता में भाँकियाँ निकाली जाती हैं। ये लोग रात के दो-दो बजे तक नींद को आँखों में दबाये बैठे रहते हैं। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने इस प्रथा को बहुत प्रोत्साहन दिया।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि पहले-पहल आर्य लोगों ने इस यात्रा प्रथा को कुछ घृणा की दृष्टि से देखा। यात्राओं के द्वारा पहले ही नाट्य कला विकसित हुई प्रतीत होती है। और जिस प्रकार आक्रमणकारी जातियाँ किया करती हैं, आर्य-पूर्वजों ने इस कार्य को भी शूद्रों के लिए ही छोड़ दिया। इसका प्रमाण वह परम्परागत पौराणिक कथा है जिसके द्वारा यह व्यक्त किया जाता है कि जब शूद्रों को चारों वेद पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो ब्रह्मा को प्रार्थना की गई कि इनके आमोद-प्रमोद के लिए भी कुछ रचा जाए। तो ब्रह्मा ने चारों वेदों में से कुछ-कुछ अंश लेकर इस नाट्य कला का दान शूद्रों को दिया। भारत को इसका आचार्य बनाया गया। जिसने नाट्य-शास्त्र का निर्माण किया।

और बाद में उसकी संतान (सौ पुत्र) भी इसी कला के लिए जीती मरती रही। प्रो० जागीरदार के कथनानुसार वैदिक कर्मकाण्डी आर्य पूर्वज इस कला को अथम कर्म समझते थे। अतः उन्होंने भरत तथा उनके सौ पुत्रों को आप दे दिया कि वे शूद्र बन जाएँ। भरतों ने शूद्र बनना स्वीकार कर लिया, पंजाब तथा सिन्ध नदियों के देश का परित्याग करके राजपूताना तथा दक्षिण भारत की ओर चल पड़े। दक्षिण के एक राजे 'नहुष' ने इनको शरण दी जिससे दक्षिण भारत में नाट्यकला का विकास होने लगा। यही कारण है कि हमें पंजाब में नाट्य-शालाएँ तथा रंगमंच के प्रमाण नाममात्र ही प्राप्त होते हैं।

बाद में आर्य संस्कृति ने इस कला की बहुमुखी महानता को अनुभव किया और संस्कृत में नाटकों की महान् परम्परा ने जन्म लिया।

प्रो० पिशेल संस्कृत नाटकों के जन्म का मूल आधार पुतली नाच की प्रथा को मानता है। इसके प्रमाण के फलस्वरूप उसका विचार है कि नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग इस ओर संकेत करता है कि नाटक पुतली नाच का ही विकसित रूप है। सूत्रधार के हाथ सब-कुछ होता था, वह महीन सूत्र के द्वारा इनको नचाता था। इसीसे विकसित होता हुआ संस्कृत नाटक देखने में आया। किन्तु हमारे विचार के अनुसार पुतली नाट्य की प्रथा आगे विकास नहीं कर सकी अपितु इसका विघटित रूप पंजाब की मंराशी जाति के पास नाममात्र रह गया है जो आटे की एक-एक मुट्ठी लेकर पुतली नाट्य दिखाते फिरते थे।

संस्कृत नाटकों में सूत्रधार शब्द का प्रयोग उस मनुष्य के लिये है जो नाटक के समस्त कार्य विधान का ज्ञाता है और पदों उठने पर स्टेज पर आकर खड़े जाने वाले नाटक का पूर्ण परिचय, पात्रों का विवरण एवं विस्तार बताता था। बाद में इसके साथ नटी का आना भी अनिवार्य हो गया। पुतली नाच किसी प्रकार पर भी संस्कृत नाटक की आधारभूमि नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रो० पिशेल का यह विचार भी स्वीकार करने योग्य नहीं कि छाया-नाटकों से संस्कृत नाटक विकसित हुआ। छाया नाटक तो बहुत बाद की उपज है। यह तो रंगमंच के निर्माण के चिरकाल उपरान्त, सम्मुख आने वाली वस्तु है। उन्होंने सुभट्ट कृत 'धूताङ्गद' का उदाहरण दिया है। हम इससे एक बात का अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि उस समय संस्कृत ने प्रत्येक प्रकार की रंगमंच की शैली को जन्म दे दिया था जो कि वर्तमान रंगमंच पर आधुनिक रूप में प्रस्तुत की जाती है। छाया नाटक तो एक अत्यन्त सूक्ष्म कला है जो प्रारम्भिक काल में अस्तित्व में नहीं आ सकती।

१. पंजाब में आज-कल भी बुरे मनुष्य को 'नहुष' कहा जाता है।

कुछ विद्वानों को विचार है कि भारत में नाटक का उद्भव सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त यूनानी प्रभाव के कारण हुआ। यह विचार पूर्णतया मिथ्या है। इस विचार को जान बूझ कर प्रस्तुत करने वाले वे पाश्चात्य विद्वान हैं जिनके मन में यह विपरीत भावना प्रबल थी कि भारत में कलाओं के उद्भव को यूनानी देन सिद्ध किया जाये। किन्तु निराधार उक्तियों पर कोई झूठ का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। यूनानियों के नाममात्र प्रभाव सिक्के बनाने तथा मूर्ति-कला में अवश्य प्रकट होते हैं—वे भी बाद में—किन्तु नाट्य-कला में कदाचित् नहीं। भारतीय तथा यूनानी नाट्य का रूप-विधान पूर्णरूपेण भिन्न है। सबसे प्रमुख भेद है—सुखान्त तथा दुःखान्त का। दूसरे भारतीय नाटक में रोमांटिक वातावरण का गहरा रंग है, रंगमंच की सीमाओं को बड़ी उदारता से तोड़ा गया है। जबकि यूनानी नाटक तीन-इकाइयों के सीमित घरे में बँधा अभिनय कला में भी अड़चनें उत्पन्न करता था। यूनानी नाटक में यथार्थ चित्रण बहुत संशयपूर्ण रूप में विकसित हुआ है। किन्तु भारतीय नाटक में यदि विक्रम धरती का निवासी है तो उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा। प्रेम-कथाओं में मेघ दूत बने विचरते हैं। यह अन्तर यह सिद्ध करता है कि भारतीय नाटक का अन्तर बाहर अपना ही रहा है। इसके साथ यह बात भी विचारणीय है कि सिकन्दर की सेनाएँ मगध सीमान्त के पूर्व ही वापिस मुड़ गईं। मगध देश की सीमा के पार ही भारतीय नाटक का क्षेत्र रहा है। यूनानी कोई बलवान उत्तराधिकारी नहीं दे सके। अतः इस कारण यहाँ बसने वाले यूनानियों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव ही आच्छादित रहा है।

संस्कृत नाटक के सम्पूर्ण रूप के अस्तित्व के पूर्व स्वांग प्रथा भी चिर-काल प्रयन्त प्रचलित रही प्रतीत होती है (स्वांग का अर्थ है नकल उतारना स्वांग भरना) यह गृह से लेकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान था। स्वांग समय पर ही घड़ लिया जाता था और इसका विषय वस्तु सदा नवीन होता था। हास्य रस इसका मुख्य उद्देश्य माना जाता था। इसमें से ही सिद्ध एवं मशकरी विकसित हुई। संस्कृत नाटक में यह काम विदूषक का कर्म माना जाने लगा।

रामायण तथा महाभारत में नाटक के संकेत मिलते हैं। लव-कुश से जो श्रीराम की कथा सुनाई गई है वह वास्तव में इसका अभिनय अथवा नाट्य-रूप ही था। श्री वाल्मीकिजी एक स्थान पर लिखते हैं।—

“नट नर्तक संधानां गायकानाम् च गायताम् ।

यतः करण सुखावाचः श्रुत्वा ननता तत् ॥”

महाभारत में एक पूर्ण कथा इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार आर्य लोग नाट्यकला से प्रभावित थे। और उसका युद्धनीति में प्रयोग किया जाता था। वज्रनाभ राक्षस ने जब ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर लिया तो इन्द्र को युद्ध के लिये ललकारा। उस समय वासुदेव का अश्वमेध यज्ञ हो रहा था, इसी में भद्र नामक नट ने महाऋषियों से आकाश में पृथक्-पृथक् रूप धारण करने का वर प्राप्त कर लिया था। भगवान् कृष्ण के कहने पर भद्र नट बहुत से यादवों को नट के रूप में लेकर वज्रनाभ की नगरी में प्रविष्ट हो गया। वज्रनाभ की लड़की प्रभावती के मन में पहले ही प्रदुम्न को वर रूप में प्राप्त करने की उत्कण्ठा जगा दी गई थी।

दैत्यों ने भद्र नट के नाटक को बहुत पसन्द किया तथा बहुत-सा धन लुटाया। स्त्रियों ने अपने आभूषण तक उतार कर दे दिये। इस कोलाहल में वज्रनाभ का वध कर दिया गया।

पाणिनी ऋषि ने दो नाट्य आचार्य शिलाली और किशाश्व का संकेत किया है किन्तु इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकीं।

संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक का उद्भव दूसरी पूर्व ईस्वी सदी में हुआ। इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के वाद-विवाद चले आये हैं। परन्तु अन्त में डा० कीथ का यह निम्नलिखित विचार सर्वमान्य है :—

“The balance of probability; therefore, is that Sanskrit dramas came into being shortly after, if not before the middle of second century B. C. and that it was evoked by the combination of epic recitation with the dramatic movement of the Krishna legend, in which a young god strives against and overcomes enemies.

Dr. Keith, p. 45. Oxford at the Clarendon Press.

संस्कृत नाटक के सर्वप्रथम नमूने किसी अज्ञात नाटककार के उपलब्ध होते हैं। ये ध्वंसावशेष से बचे नमूने हैं। जो पूर्णरूप में नहीं मिले। पहला है ‘शारि पुत्र प्रकरण’ दूसरा ‘अन्यापदेशीरूपक’ और तीसरा है ‘गणिका रूपक’। ये तीनों नाटक प्रथम नाटक होते हुए भी संस्कृत नाटक में विशेष स्थान के अधिकारी हैं। इनका अज्ञात लेखक मनोरंजन का ध्यान कम रखता है तथा धर्म एवं ज्ञान का अधिक प्रचार करता है। अन्यापदेशी रूपक में तो उसने बुद्धि, कीर्ति आदि भावों का मानवीकरण किया है। स्वयं भगवान् बुद्ध

इसके पात्र हैं। 'गणिका रूपक' में सोमदत्त की एक वेश्या के साथ प्रणय कथा वर्णित है। इन नाटकों की मंजी शैली को देखकर कई विद्वानों का विचार है कि ये नाटक अश्वघोष की रचनाएँ हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये कालिदास के बाद की रचनाएँ हैं—किन्तु यह मत मान्य नहीं। इनका कर्ता कोई अज्ञात तथा महान् कलाकार है जिसकी शैली शूद्रक के 'मृच्छकटिक' के साथ मेल खाती है।

इसके पश्चात् क्रमशः निम्नलिखित संस्कृत नाटककारों का विशेष उल्लेख किया जाता है—भास, कालिदास, शूद्रक, महाराजा हर्ष वर्धन, भट्ट-नारायण, विशाखदत्त, भवभूति, रामचन्द्र (एक जैन साधु) मुरारि तथा राजशेखर आदि।

इस लेख में सभी नाटककारों के सम्बन्ध में विचार कर सकना सम्भव नहीं। विशिष्ट रचनाओं का विश्लेषण ही किया जा सकता है।

भास नाटककार के सम्बन्ध में ४०-४२ वर्ष पूर्व कुछ भी ज्ञान नहीं था। सन् १९१३ में म० म० गणपति शास्त्री ने भास के १३ नाटकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। भास के एक नाटक के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसको अग्नि में जलाया गया किन्तु वह फिर भी जल न सका। वास्तव में यह आलोचना की अग्नि का चिह्न है जो किसी महान् रचना के गौरव को नहीं जला सकती।

इन नाटकों के सम्बन्ध में आज भी भिन्न-भिन्न विचार हैं। कोई इनका रचयिता किसी दक्षिणवासी को मानता है जो सातवीं-आठवीं शताब्दि का था। कोई इनको भास की रचनाओं का विकृत रूप मानता है। किन्तु बहुमत भास की उपस्थिति तथा उसके कलाकौशल को टकसाली रूप मानती है।

कालिदास के तीनों नाटकों (मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम्) में से मुझे सबसे अधिक विक्रमोर्वशी ने प्रभावित किया है। इस नाटक का अपना ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक महत्व है। पिछले दिनों मुझे एक रूसी पुस्तक (A visitor from outer space) के गम्भीर अध्ययन का अवसर मिला है। इसमें छः वैज्ञानिक कल्पना की कथाएँ हैं। पूर्ण नया अनुभव है। हम भारतीय साहित्यकार अभी उस कल्पना मण्डल में नहीं पहुँच सकते। एक कहानी 'मंगलवासी' तथा दूसरी 'अन्तरिक्ष के उस पार का यात्री'—पढ़कर मुझे कालिदास का विक्रमोर्वशी स्मरण हो आया। उर्वशी स्वर्गपुत्री है और विक्रम इस भू-ग्रह का निवासी। दोनों की प्रणय कथा इस नाटक का मूल आधार है। मेघों के दूत सन्देश ले दे रहे हैं। कालिदास की इस महान् कल्पना के आगे

जहाँ मैं प्रगट होता हूँ वहाँ साथ ही मैं यह भी सोचता हूँ कि अन्तरिक्ष में भ्रमिन् अन्य ग्रहों के सम्बन्ध में हमारा पूर्वज कवि तथा नाटककार अवश्य सचेत या अचेत रूप में जाना था। कल्पना का यह संकल्प कोई पौराणिक कथा नहीं कही जा सकती। उस समय के साहित्यकार ने वैज्ञानिकों को चेतावनी दी थी किन्तु हमारे देश के लोग सोने रहे। यूरोप जाग रहा है। किसी कवि की कल्पना को यथार्थ पक्ष लग रहे हैं। गत दिवस की कल्पना आज का सत्य बन गई है।

कालिदास कवि पहले था, नाटककार बाद में, किन्तु उसने कही भी एक कला को दूसरी पर हावी नहीं होने दिया। वह सचेत रूप में युग की कुरीतियों की ओर संकेत करता है। किन्तु बहिर्मुखी रूप में वह लोगों को आमोद-प्रमोद की सामग्री भी दे जाता था। कालिदास हमारी भारतीय नाटक परम्परा का ब्रह्मा था किन्तु बाद में पंडित प्रणाली ने उसकी शैली को टैकनीक रूप मानकर उसकी कला का गला घोट दिया।

कालिदास का उत्तराधिकारी हम 'मृच्छकटिक' के कर्ता शूद्रक को कह सकते हैं। मृच्छकटिक भी किसी अज्ञात कलाकार की रचना मानी जाती रही है। किन्तु बाद में उस कलाकार का नाम शूद्रक मान लिया गया। शूद्रक ने नाट्य-कला की परम्परा को तोड़कर एक नई मौलिक प्रणाली का प्रयत्न किया। उसके पात्र उसके अपने समाज के जीते-जागते पात्र थे। उसके पात्र लफंगे हैं किन्तु हृदय के पवित्र। वेश्याएँ, जवारिये, पतित, चोर, पापी, शिकारी तथा न्याय के प्रतिनिधि मिपाही भी हैं। उसने उच्च वर्गों के पात्रों के प्रति विद्रोह किया। शूद्रक ने विद्रूपक का बहुत यथार्थ प्रयोग किया है। डॉ० भोलाशंकर व्यास के कथनानुसार बाद में कोई भी नाटककार कालिदास तथा शूद्रक की शैली को आगे न बढ़ा सका। अनेकों ने इसी को शिखर मानकर इसी भट्टी के साँचे में अपनी ईंटें पकाने का प्रयत्न किया।

हर्ष, भट्ट नारायण और भवभूति की नाट्यकला अपनी विशेषताएँ रखती है। किन्तु इसके पश्चात कालभेदी संस्कृत नाटक का पतन आरम्भ हो गया था। इस पतन का मूल कारण मुसलमानों के आक्रमणों को मानना अधिक न्यायपूर्ण नहीं।

वास्तव में संस्कृत नाटक अधिकतर सामंत समाज तथा पंडित समाज में बँधे हुए थे। कुछ समय तो लोग इनका आनन्द मानते रहे किन्तु बाद में प्राकृतों के उद्भव के कारण संस्कृत नाटक का क्षेत्र सीमित हो गया और

दूसरे कालिदास के पश्चात् के नाटकों में रंगमंच की आवश्यकताओं को कम ध्यान में रखा गया अतः नाटक पठन-पाठन का क्रम बनकर रह गया ।

बोधियों तथा जैनियों ने भी इसकी ओर से संन्यास ले लिया । इसी समय में मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हो गये । जिसके कारण किनारे के वृक्ष के समान संस्कृत नाटक नदी के बहाव में बह गया ।



•
नाटक
के
प्राथमिक
रूप
•

नाटक

संस्कृत काव्य शास्त्र में नाटक के स्थान पर रूपक अथवा नाट्य शब्द का प्रयोग होता था । नाटक रूपक का एक भेद माना जाता रहा है । आज हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस साहित्य विधा के लिए नाटक शब्द प्रचलित हो गया है ।

व्याकरणाचार्य पाणिनी ने नाटक शब्द की उत्पत्ति नट् धातु से मानी है । नट् धातु में अभिनय और नृत्य दोनों का स्पष्ट आभास है । इसीलिए नाटक को 'अमस्थानुकृति नाट्य' अर्थात् अवस्थाओं का अनुकरण ही नाटक माना है । इससे एक बात पूर्णतया स्पष्ट है कि अभिनय नाटक का अभिन्न अंग है जिसके बिना नाटक, रूपक अथवा नाट्य कहलाने का अधिकारी नहीं ।

पूर्वीय नाट्य-तत्व

अनेक भारतीय विद्वानों ने दशरूपक के इस सूत्र—

वस्तु नेता रसतेषाम् भेदक

अर्थात् वस्तु नेता और रस ये भेदक तत्व हैं—के आधार पर वस्तु नेता और रस ही नाटक के मूल तत्व मान लिए हैं । यह उनकी भ्रान्ति है । इस सूत्र में ऐसा मानने का कोई संकेत नहीं । वास्तव में भारतीय आचार्यों ने सर्वप्रथम नाटक के तत्व गिनाकर उनका विवेचन नहीं किया वरन् इसके विपरीत उन्होंने नाटक के विभिन्न अंगों का विवेचन भिन्न-भिन्न स्थानों पर कर दिया है । जैसे कथोपकथन को ही लो, इसका विवेचन उन्होंने कथावस्तु के अन्तर्गत ही कर दिया है । यही स्थिति नाटक के अन्य अंगों अथवा तत्वों की रही है । इस प्रकार हम पूर्वीय आचार्यों के तत्वों को इस क्रम से ले सकते हैं ।

कथावस्तु : नाटक के कथानक को कथावस्तु कहते हैं । नाटक की कथा-वस्तु लोक-जीवन से ली जाती है । लोक-जीवन दो प्रकार का होता है : सुखात्मक और दुखात्मक । जिसका क्षेत्र, सर्वभाव, सर्वरस, सर्वक्रम और अनेक अवस्थाओं तक व्यापक होता है । जैसा कि भरत मुनि ने लिखा है :

सर्व भावंः सर्व रसैः सर्व कर्म प्रवृत्तिभिः ।

नाना अवस्थान्तरोपेतम् नाटकं संबन्धीयते ॥

सारांश में पूर्वीय नाटक जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति है ।

भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु दो प्रकार की मानी गई है । एक आधिकारिक दूसरी प्रासंगिक ।

आधिकारिक कथावस्तु : जो कथावस्तु फल के अधिकारी से सम्बद्ध हो वह आधिकारिक वस्तु कही जाती है । जैसे शकुन्तला नाटक में शकुन्तला की कथा आधिकारिक कथा है ।

प्रासंगिक : प्रासंगिक कथावस्तु को गौण तथा अप्रधान कथा भी कहा जाता है । यह कथा मुख्य-आधिकारिक कथावस्तु की पोषक, दूसरे शब्दों में सहायक होती है । जैसे अभिज्ञान शकुन्तला में दुर्वासा या धीवर की कथा ।

प्रासंगिक कथावस्तु के भी दो भेद माने हैं—एक प्रकरी दूसरी पताका ।

पताका : विश्वनाथ ने पताका की परिभाषा देते हुए लिखा है—

व्यापि प्रासंगिकम् वृत्तपताकेत्यभिधीयते

अर्थात् प्रासंगिक वस्तु में दूर तक व्यापक या साथ चलने वाली वस्तु को पताका कहते हैं ।

प्रकरी : जो कथा प्रधान कथा के साथ थोड़ा दूर तक चलती हो—जैसे शकुन्तला में दुर्वासा की कथा ।

• नाटक में प्रासंगिक कथावस्तु के दो मुख्य कार्य प्रतीत होते हैं—एक नायक के चरित्र को स्पष्ट करना, दूसरे आधिकारिक कथा को उचित मोड़ देना ।

भारतीय आचार्यों ने आगे प्रासंगिक कथावस्तु के और भी अनेक सूक्ष्माति-सूक्ष्म भेद किये हैं । यहाँ स्थानाभाव के कारण उनका विवेचन कठिन है ।

वस्तु का विकास जित-जित अवस्थाओं में होकर होता है आचार्यों ने उनके भी पाँच भेद किये हैं । इनको कार्यावस्था का नाम दिया गया है । कार्यावस्थाएँ वस्तु के क्रमविकास को व्यक्त करती हैं । पहली कार्यावस्था है : आरम्भ—“इदम् अहं संपादयामि इत्पथवसायः मात्रमारम्भ इत्युच्यते ।” अर्थात् नायक जब ‘मैं यह कार्य करूँगा : ऐसी इच्छा प्रकट करता है—वहीं से आरम्भ की अवस्था मानी जाती है । नाटक के आरम्भ में नायक की फल-प्राप्ति की उत्सुकता या तीव्र इच्छा ही आरम्भ है । जैसे दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला प्राप्ति की इच्छा ।

प्रयत्न : प्रयत्नस्तु तप्राप्ती व्यापारो इतिस्वान्वितः ।

(दशरूपककार)

अर्थात् “फल प्राप्ति के लिए किया गया प्रयत्न व्यापार ही प्रयत्न है ।” शकुन्तला प्राप्ति के लिए दुष्यन्त का प्रयत्न ।

प्राप्तयाशा : “उपायापाय शंकाभ्यां प्रादयाशा प्राप्ति सम्भवा ।”

(दशरूपककार)

जब फल प्राप्ति की सम्भामना हो जाए उसे प्राप्त्याशा अवस्था कहते हैं । जैसे दुष्यन्त को शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह के उपरान्त शकुन्तला-प्राप्ति की सम्भावना होना ।

नियताप्ति : “अपनयाभावात् प्राप्तिः नियताप्तिस्तु निश्चिताः ।”

(विश्वनाथ)

जब फल प्राप्ति की सम्भावना निश्चय में परिवर्तित हो जाती है तो उसे नियताप्ति कहते हैं । जैसे धीवर द्वारा शकुन्तला की मुद्रिका का मिलना और उसकी प्राप्ति की पूर्ण सम्भावना होना ।

फलागम : जब नाटक के अन्त में फल-प्राप्ति हो जाती है तो फलागम कहते हैं । जैसे शकुन्तला की प्राप्ति ।

संस्कृताचार्यों ने कार्यवस्थाओं के अतिरिक्त पाँच अर्थ प्रकृतिएँ भी मानी हैं । ये कार्यवस्थाओं के अर्थ को प्रकट करती हैं । इनके नाम हैं बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य ।

बीज : नाटक के आरम्भ में इच्छा का बीजवपन बीज कहलाता है । इसमें मुख्य फल का थोड़े से शब्दों में कथन होता है और कथा विस्तार की ओर अग्रसर होती है । जैसे एक बीज अंकुरित होकर पल्लवित होता है । अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यन्त का शकुन्तला को देखकर उसके पाने की इच्छा प्रकट करना बीज अर्थ प्रकृति है ।

बिन्दु : उस अर्थ प्रकृति को कहते हैं जब मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथा जीवित होती है । धनिक की भाषा में—कथा का विस्तृत होना । जैसे :

‘जले तैल बिन्दुवत् प्रसारत्वात्’—तेल की बूंद जल में फैल जाती है ।

पताका : जो कथा अधिक दूर तक मुख्य कथा के साथ-साथ चलती है उसे पताका कहते हैं । विशाख में आम्नपाली श्यामा की कथा ।

प्रकरी : मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलने वाली कथा प्रकरी कही जाती है । जैसे शकुन्तला में दुर्वासा की कथा या प्रसंग ।

कार्य : प्रचलित भाषा में उद्देश्य का नाम ही कार्य है । नाटक में

इसका आरम्भ तो नायक की इच्छा के उद्भव होने के समय ही हो जाता है किन्तु इसका सही कार्यस्थल वहीं है जहाँ सभी साधन समापन्न हो जाएँ ।

भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु में तीसरा भेद संधियों के नाम से किया है । कार्य-अवस्था और अर्थ प्रकृतियों की भाँति संधिऐं भी पाँच हैं— मुख, प्रति-मुख, गर्म विमर्ष एवं निर्वहण (मुखं प्रतिमुखे चैव गर्भो विमर्षये वचः तथा— निर्वहणचेति नाटके पञ्च संध्याः नाट्यशास्त्र) नाटक में इनका कार्य एक प्रयोजन को दूसरे प्रयोजन से सम्बन्धित करना है ।

नाटक के इस कथावस्तु के विवेचन में दो बातें विशेष विचारणीय हैं । पहली बात तो कार्यावस्थाओं के सम्बन्ध में है । वह है उनके विकास सम्बन्धी । भारतीयाचार्यों ने वस्तु का विकास फलप्राप्ति को मुख्य रखकर किया है । नाटक की वस्तु धीरे-धीरे विघ्नवाधाओं को पार करती हुई फल की ओर अग्रसर होती है । इससे स्पष्ट है कि यह विभाजन विशुद्ध उद्देश्य-प्रधान है, कला-प्रधान नहीं । किन्तु संधियों का विभाजन इसके बिल्कुल विपरीत कलात्मक है । वह है वस्तु में गठन बनाये रखना और उद्देश्य को एक सूत्र में पिरोकर वस्तु को एकरस बनाना । इस प्रकार की सार्थिकता जीवन को आशावान बनाने में है तथा दूसरे की नाट्य को कलात्मक बनाने में ।

कथोपकथन : भारतीयों ने कथोपकथन नाटक का पृथक् तत्त्व नहीं माना । किन्तु यह भी कोई नहीं कह सकता कि उन्होंने कथोपकथन की ओर ध्यान ही नहीं दिया । संस्कृत आचार्यों ने कथोपकथन को भी कथावस्तु का अंग माना है । या इस प्रकार कहना चाहिए कि उन्होंने कथोपकथन के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद किये हैं । पर हम कथोपकथन को वस्तु से भिन्न मानकर उसका विश्लेषण करेंगे क्योंकि कथोपकथन को वस्तु विभाजन का आधार मानना संगत प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में कथोपकथन मुख्य या प्रथम तीन प्रकार का होता है—श्राव्य, अश्राव्य एवं नियत श्राव्य ।

(१) श्राव्य : जो सबको सुनाई दे ।

(२) अश्राव्य : जो किसी को भी सुनाई न दे ।

(३) नियतश्राव्य : जो नियत व्यक्तियों को सुनाई दे ।

नियतश्राव्य के आगे अपवारित और जनान्तिक दो भेद और हैं । इनके अतिरिक्त एक आकाशभाषित कथोपकथन है । आकाश भाषित में पात्र आकाश की ओर मुँह करके स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं उत्तर देता चलता है । मुद्राराक्षस में इसका विशेष प्रयोग है ।

नाट्यकला की दृष्टि से श्राव्य और आकाशित ही उपयुक्त और नाटकीय कहे जा सकते हैं। नियत श्राव्य और उसके भेद—अपवारित तथा जनान्तिक नाटक की दृष्टि से—अर्थात् अभिनय पक्ष की दृष्टि से अस्वाभाविक और व्यर्थ है। क्योंकि इनका प्रयोग रंगमंच पर किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। यदि दूसरे पात्र की ओर पीठ मोड़कर—(जैसे आचार्यों ने लिखा है) इसका उपयोग कर भी लिया जाये तो भी यह अस्वाभाविक तथा हास्यपद लगेगा। क्योंकि जिस पात्र से छुपाने का प्रयत्न करेंगे वह समीप होने के कारण सबसे पहले सुनेगा और श्रोता बाद में। हो सकता है ऐसे स्वाभाविक कथोपकथन से श्रोता वंचित ही रह जाएँ। इस प्रकार यह कथोपकथन अस्वाभाविक है। हाँ, जीवन में ऐसा अवश्य होता है किन्तु नाटक में ऐसा लिखा तो जा सकता है पर अभिनय के समय इसका उपयोग असम्भव है। स्वगत कथोपकथन की भी यही दशा है। वह इससे भी अधिक अस्वाभाविक है। आचार्यों के कथोपकथन से एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि वह नाटक को जीवन की पूर्ण अवस्थानुकृति बना देना चाहते थे और इसी आधार पर उन्होंने जीवन की प्रत्येक क्रिया को नाटक के लिये स्वाभाविक मान लिया। इसका अर्थ यह नहीं कि वे रंगमंच से अनभिज्ञ थे। रंगमंच के तो वे पूर्ण ज्ञाता थे किन्तु कथोपकथन के समय वे अवश्य रंगमंच को भुला बैठे थे। पाठ्यनाटक की दृष्टि से उनका यह विभाजन अत्यन्त श्लाघनीय है।

पात्र :—तात्त्विक दृष्टि से नाटक का दूसरा तत्व पात्र है। यद्यपि हमने कथोपकथन का इसके पूर्व दूसरे स्थान पर ही विवेचन कर दिया है। अब तीसरा तत्व पात्र लेते हैं। संस्कृत नाट्य-शास्त्र ने पात्र भी अनेक प्रकार के माने हैं। पहला मुख्य पात्र है, नेता या नायक। भारतीयाचार्यों के अनुसार नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवादी, लोकरक्त, वाणीनिपुण, उच्चवंशवाला, स्थिर स्वभाववाला, युवा, बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रक्षा कला आदि गुणों से युक्त, शूरवीर, दृढ़ तेजस्वी शास्त्रज्ञाता और धार्मिक होना चाहिए।

उपरोक्त सभी गुण एक आदर्श नायक के हैं। ऐसा नायक जीवन में मिलना कठिन है—असम्भव है। वास्तव में भारतीय आचार्य मनुष्य को इस रूप में देखना चाहते थे और ऐसा ही मनुष्य उन्होंने नायक घोषित कर दिया। यह उनका आदर्श दृष्टिकोण है पर स्वाभाविक नहीं। क्योंकि ऐसा नायक कल्पित तो किया जा सकता है पर जीवन में होना असम्भव है। मान लो ऐसे नायक दो-चार मिल भी जाएँ तो वे जन-जीवन के प्रतिनिधि कभी नहीं बन सकते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ऐसा नायक मन से शून्य होगा।

उसकी प्रत्येक क्रिया यन्त्र चालित सी होगी, स्वाभाविक नहीं। इसके साथ नाटक अवस्थानुकृति नाट्य न रह कर कुछ और ही बन जायेगा। कुछ भी हो उनकी यह कल्पना लोकहित का अवश्य प्रमाण देती है। इसके साथ नीचे का वर्गीकरण उनके इस दोष को और भी कम कर देता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में नायक के चार भेद माने हैं—भैदः चतुर्धा ललित शान्तोदात्तोद्ध तैरयम्—अर्थात् धीर ललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त, और धीरोद्धत।

धीरललित —ललित स्वभाव का, संगीत तथा शृंगारप्रिय (रति-भाव) नायक धीर ललित माना जाता है। संस्कृत-साहित्य में वत्सराज उदयन धीरललित नायक प्रसिद्ध है।

धीर प्रशान्त :—शान्त तथा साधु स्वभाव का नायक धीर प्रशान्त कहा जाता है। इस श्रेणी के नायक अधिकतर ब्राह्मण या साधु होते हैं—पर दुर्वासा जैसे मुनि नहीं।

धीरोदात्त :—जो नायक धीर, वीर, पराक्रमी, दयालु, एक पत्नी-व्रती हो वह धीरोदात्त नायक कहलाता है। एक शब्द में उदात्त-महान गुणों से युक्त नायक, जैसे युधिष्ठिर और मर्यादा पुरुषोत्तम राम।

धीरोद्धत :—पाखण्डी, दंभी, मायावी और उद्धत स्वभाव का नायक धीरोद्धत कहा जाता है, जैसे दुर्योधन आदि।

नायक के अतिरिक्त पीठमर्द,—(नायक का सहायक) विदूषक और प्रतिनायक भी कुछ एक नाटकों में उपलब्ध होता है। अंग्रेजी में इसी को विल्हन कहते हैं। पुरुष पात्रों के साथ-साथ स्त्री पात्रों में नायिका का सबसे अधिक विस्तारपूर्वक विश्लेषण मिलता है। इनका विश्लेषण तथा वर्गीकरण अधिकांशतया स्वभाव के आधार पर किया है जो आचार्यों की सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है। इस वर्गीकरण में अथवा नायिका निर्वाचन में एक दोष भी है जिसको भुलाना कठिन है। नायिकाओं में सभी नायिकाएँ रतिभाव की हैं। उनमें प्रेमिकाएँ ही प्रेमिकाएँ हैं, वीरता आदि गुणों से सम्पन्न एक भी नायिका नहीं। जबकि भारतीय जीवन में नारी के विविध रूपों की प्रधानता है। यह एकांगीपन नारी को एकमात्र नारी देखने का दृष्टिकोण है जिसमें जीवन की व्यापकता नहीं और भारतीय दृष्टि भी नहीं। नारी के मातृ और भगिनी रूपों की अवहेलना कामुकता की परिचायक है। प्रसाद जी के नाटकों में नारी केवल नारी बन कर नहीं आई वरन् नारी का समग्ररूप बन कर आई है। संस्कृत के नाटकों में—विशेषकर उन नाटककारों के नाटकों में (कालिदास, भास)

जिनके आधार पर नाट्य-सिद्धान्तों का निर्माण हुआ, नारी का यही एक रूप प्रधान था। आचार्यों ने उसी को अन्तिम सत्य मान कर नायिका का एक रूप सिद्धान्त बना दिया है। उनकी भूल का यही एक कारण है। बाद के आचार्यों भी अन्धा-धुन्ध उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलते रहे, भूल पराभूल होती रही।

भारतीय आचार्यों ने नायिका भेद का वर्णन शृंगार-रस के प्रसंग में ही किया है जिससे यह निश्चान्त सिद्ध हो जाता है कि वे नारी को रतिभाव से पृथक् नहीं कर सके। यही इनकी भूल का प्रधान कारण है।

रस : अथवा उद्देश्य :—रस भारतीय काव्य-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त है। ध्वनिवादियों ने तो रस को सर्वाधिक महत्व दिया है। इसकी स्थिति सर्व-प्रथम नाटक में ही मानी गई है। और संस्कृत में नाटक को मुख्य रखकर ही रस के साधारणीकरण का विवेचन किया गया है।

भरत के अनुसार नाटक में भाव, विभाव और संचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होनी अनिवार्य है। स्थायी भाव-विभाव-अनुभाव और संचारी-भाव, रस के ये चार तत्व हैं। जब स्थाई भाव के साथ विभाव-अनुभाव और संचारी भावों का संयोग होता है तो रति आदि स्थाई भाव रस रूप में परिणत हो जाता है। दर्शक के साथ रस का साधारणीकरण किस प्रकार होता है? संस्कृत में इस सम्बन्ध में बड़ा विवाद रहा है। इसके प्रमुख चार व्याख्याकार हैं :—

भट्टलोललट्ट :—रसशास्त्र में भट्टलोललट्ट का सिद्धान्त उत्पत्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। आरोपहाद भी इसी सिद्धान्त का दूसरा नाम है। भट्ट के अनुसार रस की स्थिति अनुकार्य में होती है और यह आरोप मूलक है। सामाजिक भ्रान्ति से नट में आरोप कर लेता है। यही भट्ट का रससिद्धान्त है।

शंकुक :—शंकुक का सिद्धान्त अनुमतिवाद है। भट्ट ने संयोग का अर्थ उत्पाद्य—उद्पादक लिया था। शंकुक संयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध लेते हैं। इनके अनुसार रस अनुमाप्य है और विभादि अनुमापक है। सामाजिक इसका अनुमान करता है। शंकुक ने तुरंग न्याय के सिद्धान्त के आधार पर अपने सिद्धान्त को खड़ा किया है।

भट्टनायक :—इतका सिद्धान्त मुक्तिवाद है। इनके अनुसार यदि रस की स्थिति अनुकार्यगता या अनुकर्ती मानें तो दर्शक तटस्थ रह जायेगा, इस दशा में उसे रसानुभूति असम्भव है। इसके विपरीत यदि सामाजिक गत मानें तो अनुचित है क्योंकि रस की उत्पत्ति सीता रामादि विभादियों के द्वारा होती है, इसलिये इन्होंने साधारणीकरण मुक्तिवाद के सहारे भाव के साथ माना है।

अभिव्यक्त गुप्त :—उनका सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद है। इन्होंने अभिव्यक्ति

में ही रस की स्थिति मानी है। इनके अनुसार दर्शक और अनुकार्य का तादात्म्य-भाव ही साधारणीकरण का मुख्य कार्य है—इसका विस्तारपूर्वक विवेचन रस-विवेचन में उचित है, यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि नाटक में रस की स्थिति के बारे में अत्यन्त विवाद रहा है।

भारतीय आचार्यों का यह रस ही एक उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में रस के माध्यम से चतुर्वर्ग फल प्राप्ति ही नाटक उद्देश्य है, चतुर्कर्म फल प्राप्ति समस्त भारतीय साहित्य का ही उद्देश्य है किन्तु रस के माध्यम से फल प्राप्ति को मानना कलात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अभिनय :—भारतीय नाट्यशास्त्र का पाँचवाँ तत्व है अभिनय। अभिनय नाटक का प्रधान अंग है। नाटक शब्द में अभिनय की ध्वनि स्पष्ट है।

अभिनय वही महत्वपूर्ण है जिसमें दर्शक का ध्यान इतना आकृष्ट हो जाये कि उसे अन्य विषयों का ज्ञान तक न रहे। भारतीय आचार्यों ने अभिनय चार प्रकार का माना है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्विक।

आंगिक :—विविध अंगों द्वारा किया गया अभिनय आंगिक कहलाता है।

वाचिक :—गीत कथोपकथ का अभिनय वाचक कहा जाता है।

आहार्य :—वेषभूषा, साजसज्जा, भूषणादि।

सात्विक :—मानसिक-भावों-स्वेद स्तम्भ आदि आठ भावों का अभिनय सात्विक कहा जाता है।

नाट्यशास्त्र में अभिनय के इन चारों अंगों का सविस्तार वर्णन मिलता है।

नाटक के प्रसंग में संस्कृत आचार्यों ने रंगमंच का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

शैली :—हम पीछे लिख आये हैं कि शैली नाम का भारतीय (संस्कृत) आचार्यों ने कोई पृथक तत्त्व नहीं माना किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि वे नाट्य-शैली से अनभिज्ञ थे। संस्कृत आलोचना शास्त्र में नाटक का कोई भी अंग छूटा नहीं। सभी अंगों का सविस्तार वर्णन मिलता है। किन्तु एक बात अवश्य माननी पड़ती है कि उन्होंने नाटक के सभी अंगों का वर्णन पृथक-पृथक न करके विभिन्न तत्त्वों के अन्तर्गत ही कर दिया है। जैसे शैली को ही लें, शैली का भारतीय नाट्यशास्त्र में कोई पृथक वर्णन नहीं किन्तु कथावस्तु में, वृत्तियों में, रूपक के भेद प्रभेदों के रूप वर्णन में शैली का विस्तृत वर्णन मिलता है। अतः हम शैली के बिखरे हुए विभिन्न तत्त्वों का क्रमशः विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। इन शैली तत्त्वों का

विवेचन करने से पूर्व एक बात हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भारतीय आचार्यों ने शैली को नाटक का एकमात्र बाह्य अंग नहीं माना। बहुधा वे उसे आत्मगत मानकर ही चले हैं। यही कारण है कि वृत्तियों को रस में ही मिला दिया है। रूपक के विविध भेद प्रभेदों में अनेक भेद प्रभेद शैलीगत भी हैं। चाहे वे आन्तरिक रूप सम्बन्धित हो या बाह्य से। इसमें कोई विवाद नहीं।

हम सबसे पहले नाटक की आन्तरिक रूप शैली को ही लेते हैं। आन्तरिक रूप शैली का महत्वपूर्ण तत्व है वृत्ति।

वृत्ति : वृत्ति का रुचि व्यावहारिक अर्थ है व्यापार। अभिनव गुप्त ने वृत्तियों के स्वरूप का परिचय देते हुए लिखा है—

“काय-वाउ मनसां चेष्टा राव सव वंचित्रयेण वृतयः”

अर्थात् पात्र या नायक के शरीर, वचन और मन की विचित्रतापूर्ण चेष्टाएँ वृत्तिएँ कही जाती हैं। अन्य संस्कृत आचार्यों ने कई ढंगों से कहा है किन्तु सब का अभिप्राय यही एक है। एक शब्द में पात्र की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का सम्बन्ध रस से है। क्योंकि प्रवृत्ति एक मानसिक भाव है और वही नाटक में व्यापार बनकर रस दशा तक पहुँच जाती है। अतः रस और वृत्तियों में आन्तरिक कोई भेद नहीं। रस की एक अवस्था प्रवृत्ति है और एक वृत्ति व्यापार

भारतीय आचार्यों ने वृत्तिएँ चार मानी हैं : (१) भारती, (२) सात्वती (३) कौशिकी, (४) तथा आरभटी। इनमें भारती (सरस्वती) का सम्बन्ध शब्द-वाणी से है और अन्य तीनों का अर्थ से। इनका विवेचन निम्न प्रकार है :

भारती : भारती का अर्थ है सरस्वती। सरस्वती वाणी की देवी है अतः यह वृत्ति वाक्प्रधान है। भरत मुनि के अनुसार यह वृत्ति पुरुषों के प्रयोग में लाई जाती है। स्त्रियों के लिए यह वर्जित है। इसके आगे कई भेद हैं।

यह वृत्ति पुरुषों के प्रयोग लाने के लिए है स्त्रियों के लिए नहीं। इससे दो संकेत मिलते हैं : प्रथम यह कि उस समय स्त्रियाँ अनपढ़ होंगी जो इसका उपयोग नहीं कर सकती होंगी। (संस्कृत के नाटकों में नारी पात्रों के मुख से प्राकृत या अपभ्रंश का प्रयोग इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है।) दूसरे पुरुषोचित भावों की व्यञ्जना के लिए आचार्यों ने इसको निश्चित मान लिया होगा। इन दोनों संकेतों में प्रथम ही जँचता है। यदि यह वृत्ति प्रथम संकेत की सूचक है तो आज यह स्त्री के लिये वर्जित नहीं।

सरस्वती : यह वृत्ति सत्व गुण प्रधान है। भरत के अनुसार इसमें शोक का सर्वथा बहिष्कार होता है। इसका वृत्त न्याययुक्त और प्रसन्नता से

भरा होता है। इस वृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि सात्वती वृत्ति प्रधान नाटक आरम्भ से लेकर अन्त तक सुखान्त होता है और इसमें किसी धीरोदात्त नायक की अवतारणा होती है।

कौशिकी : भरत मुनि के अनुसार यह वृत्ति निम्न रूप सज्जा तथा व्यापारों की अधिकारिणी है।

सुन्दर नेपथ्य के विधान से चित्रित मनोहर वेषभूषा से सुसज्जित, स्त्रियों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली, नाचने-गाने से पूर्ण, काम के उपभोग से उत्पन्न उपचारों से युक्त, कौशिकी वृत्ति कही जाती है।

आरभटी : आरभटी वृत्ति शब्द का सम्बन्ध आरभट शब्द से है। जिसका अर्थ है साहसी एवं उद्धत पुरुष। अतः यह वृत्ति मायाजनित इन्द्रजाल के वर्णन से पूर्ण गिरने, कूदने, उछलने तथा लांघने आदि चेष्टाओं से युक्त होती है। इसके कई भेद हैं।

इस प्रकार ये चार वृत्तिएँ काव्य की आत्मा रस से सम्बन्धित होने के कारण आन्तरिक शैली रूप है। ये वृत्तिएँ अलग-अलग रसों से सम्बन्ध रखती हैं अतः इनका सम्बन्ध नाटक के आस्वाद, उदारता, गम्भीरता, दास्य, कोमलता आदि से है।

वृत्तियों के उपरान्त नाट्य शैली का दूसरा रूप आरम्भिक विधान है। आरम्भिक विधान में पहला संस्कृत शैलीरूप है नांदी पाठ। नांदी पाठ का सीधा अर्थ है नाटक के आरम्भ में मंगलाचरण। नाटक के आरम्भ में कुछ स्त्री पात्र आकर देव स्तुति करते हैं। देव स्तुति भारतीयों का आध्यात्मिक कर्म है जिसका उद्देश्य ग्रन्थ की निर्विघ्न परिस्माप्ति से है। अतः नांदीपाठ का नाटक की शैली से नाममात्र का सम्बन्ध है। वास्तव में यह भारतीयों की आरम्भिक रुचि का परिचायक है।

आरम्भिक विधान में सबसे महत्वपूर्ण शैली तत्व हैं प्रस्तावना। प्रस्तावना एक प्रकार से नाटक की भूमिका है। इसमें नाटक का परिचय तथा विषय का परिचय आदि होता है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण है नाटक के आरम्भ करने का ढंग। जिसका शास्त्रीय नाम है आमुख स्थापना या प्रस्थापन। इसके भी तीन मुख्य भेद हैं : (१) कथोद्धात, (२) प्रवृत्तक, (३) प्रयोगातिशय।

कथोद्धात : जब सूत्रधार के इतिवृत्त से सम्बन्धित वाक्य के अर्थ को लेकर किसी पात्र का प्रवेश कराया जाए और मूल वस्तु का जिज्ञासापूर्ण ढंग से आरम्भ किया जाय तो उसे कथोद्धात कहते हैं।

प्रवृत्तक : जहाँ काल की समानता को लेकर श्लेष के द्वारा पात्र के आगमन की सूचना दी जाए उसे प्रवृत्तक कहते हैं ।

प्रयोगातिशय : जहाँ सूत्रधार 'यह वह है' कह-कहकर पात्र का प्रवेश कराये । उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ।

इन तीनों आमुखों में कथोद्धात नाटकीय है, शेष दोनों का ढंग साधारण है जिसमें न तो नाटकीयता है न जिज्ञासा की उत्पत्ति जोकि काव्य का प्राण है । मुद्राराक्षस का आरम्भ इसी कथोद्धात शैली के आधार पर हुआ है ।

अर्थोपक्षेपक का सम्बन्ध यद्यपि वस्तु के साथ हैं किन्तु इसको शैली से भिन्न नहीं किया जा सकता । क्योंकि वाच्य और सूच्य वस्तु का विभाजन इसी के आधार पर किया गया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध वस्तु निर्माण शैली से है । इसमें ऐसी घटनाओं की सूचना दी जाती है जो रंगमंच पर दिखाई नहीं जा सकती । ऐसी घटनाओं को सूच्य कहते हैं । इसका शास्त्रीय नाम अर्थोपक्षेपक है । इसके पाँच भेद किये हैं :

(१) **विष्कम्भक :** भूत और भविष्य की घटनाओं की सूचना देने वाला अंश विष्कम्भक कहा जाता है ।

(२) **प्रवेशक :** विष्कम्भक का ही दूसरा नाम है । विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्र इन घटनाओं की सूचना देते हैं और प्रवेशक में अधम श्रेणी के । विष्कम्भक का प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है किन्तु प्रवेशक का प्रयोग आरम्भ में वर्जित है ।

(३) **चूलिका :** पर्दे के पीछे से दी जाने वाली सूचना चूलिका कहलाती है । (इसका सम्बन्ध विशेषरूप से रंगमंच से है ।)

(४) **अंकास्य :** अगले अंक की सूचना देने वाला अंश अंकास्य या अंकमुख कहा जाता है ।

(५) **अंकावतार :** जब एक अंक के पात्र दूसरे अंक की वस्तु में प्रविष्ट हो जाते हैं तब इसे अंकावतार कहते हैं । अंकावतार का शैली के साथ कोई निकट का सम्बन्ध नहीं फिर भी वस्तु के रूप निर्माण के कारण इन अकोपक्षेप को शैली से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

शैली का पाँचवाँ तत्व है अंक विभाजन । संस्कृत आलोचना में एक अंक से लेकर दस अंक तक पाये जाते हैं । रूप का भेद नाटक तथा प्रकरण पाँच अंकों से लेकर दस अंकों तक होता है । भाण, प्रहसन, वीथी और अंक आदि रूपकों में एक ही अंक होता है । इसी प्रकार दो, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और दस अंकों तक का स्वतन्त्र विधान पाया जाता है । अतः भारतीय

नाट्यशास्त्र या नाटकों पर यह आरोप कि भारतीय नाटक बड़े-बड़े होने हैं, निराधार है।

भारतीय नाटक के अन्त में भरत वाक्य का विधान माना है। भरत वाक्य का विधान सुखान्त परिणति में ही होता है। सारा संस्कृत नाट्य साहित्य इसी शैली पर आधारित है। पश्चिमीय काव्यशास्त्र से भिन्नता की प्रत्यक्ष सूचक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में तो नहीं किन्तु नाटकों में एक और शैली है— नाटक में पद्यों का प्रयोग। नाट्यशास्त्र में इसका संकेत अवश्य है किन्तु अन्य काव्य शास्त्रों में इसका विवेचन कहीं नहीं मिलता। नाटक में गीतों या पद्यों का प्रयोग एक तो जीवन की स्वाभाविकता लाने के लिए किया है और दूसरे नाटक को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है। आजका बुद्धिजीवी इसको अस्वाभाविक मानता है। ऐसा प्रयोग नाटकीय दृष्टि से कहीं-कहीं अस्वाभाविक बन जाता है किन्तु सदैव नहीं। गीत जीवन का एक अंग है इसका नितान्त बहिष्कार अस्वाभाविक है।

सारांश में भारतीय आचार्यों का बिखरा हुआ शैली विवेचन नाटकीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज के युग में चाहे उसकी बहुत-सी बातें मेल नहीं खाती हैं, इसीसे वह त्याज्य नहीं।

रूपक के प्रभेद

संस्कृत में रूपक तथा उपरूपक दो भेद मिलते हैं। रूपक नाट्य के भेद हैं और उपरूपक नृत्य के। नाट्य और नृत्य में विषय की भिन्नता है। नाट्य रसाश्रित और काव्यत्व तथा वृत्तयुक्त होता है, नृत्य भावाश्रित। नृत्य में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। वाक्य-वार्तालाप या संवाद का इसमें अभाव होता है। ये नाटक के रूपक और उपरूपक दोनों भेद शैलीगत तथा विषयगत हैं। किन्तु रूपक के दस भेद एकमात्र शैली या विषयगत ही नहीं। ये भेद शैली, वृत्ति, पात्र, रस आदि अनेक कारणों से हैं।

नाट्यशास्त्र में रूपक के दस भेद कहे गए हैं। जिनके क्रमशः ये नाम हैं : नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहा-मृग। इनके अतिरिक्त भरत मुनि ने नाटक और प्रकरण के योग से नाटी की उत्पत्ति मानी है। भरत के उपरान्त बहुत से आचार्यों ने तो भरत के दस रूपक भेदों को ही स्वीकार किया है, कुछ एक ने रूपक के दस से बारह भेद कर दिये हैं। जिनमें दो का उल्लेख किया जा सकता है—काव्यानुशासनकार और नाट्य दर्पणकार। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में नाट्यशास्त्र के दस भेद ही स्वीकार किये हैं। रूपक के बारह भेद करने वाले ने नाटिक और सट्टक (काव्यानुशासनकार) दो भेद और किए हैं। नाट्यदर्पण में सट्टक के स्थान पर प्रकरण का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपकों के भेदों के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। फिर प्रधान रूप से नाट्यशास्त्र (भरतमुनि) के दस भेद ही सर्वमान्य हैं अतः नीचे हम इन्हीं दस भेदों का वर्णन करेंगे।

नाटक : नाटक रूपक का प्रधान या मुख्य भेद है। दूसरे शब्दों में रूप के सभी भेद नाटक के आधार पर ही किये गए हैं। नाटक में मुख्य अंग पाये जाते हैं : १. कथावस्तु, २. नायक, ३, रस, ४. आरम्भिक विधान, ५. वर्ण्य दृश्य, ६. और अंक।

नाटक की कथावस्तु इतिहास से ली जाती है। उसमें से रसानुकूल

प्रसंग ले लिये जाते हैं और नीरस प्रसंगों का परिहार कर दिया जाता है। कथावस्तु में पाँच कार्यावस्थाओं, संधियों अर्थप्रकृतियों का पूर्ण विधान होता है और अर्थोपवेक्षकों का नियोजन।

नेता धीरोदात्त, उच्चवंश और महान या दैवी पुरुष होता है।

वीर शृंगार प्रधान तथा अन्यरस गौण। कथावस्तु के प्रस्थापना (नाटक के आरम्भ करने का नाटकीय ढंग) की वातारण की जाती है। कथावस्तु के कुछ एक वस्तु दृश्यों को वर्जित माना जाता है। जैसे युद्ध वध, वेश विप्लव स्नान, भोजन, वस्त्रधारण आदि। नाटक के पाँच से दस तक अंक होते हैं। एक अंक में एक दिन कार्यों के प्रयाजन का वर्णन होता है। अभिज्ञान शकुन्तलम् और उत्तर रामचरित इस विद्या के सफल उदाहरण है।

प्रकरण :—प्रकरण में कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। जिसको नाट्य-शास्त्र की भाषा में उत्पाद्य करते हैं। नायक धीर प्रशान्त^१ इसका नायक ब्राह्मण-वैश्य भी हो सकता है किन्तु नायक की प्रकृति धर्म प्रिय होनी चाहिये। नायिका दो प्रकार की होती है—कुलवधु और वेश्या। इन दोनों बातों को छोड़कर प्रकरण में शेष सभी बातें नाटक की ही होती हैं। नाट्यदर्पणकार ने नायक नीच जाति का भी माना है। 'मृच्छकटिक' प्रकरण का सुन्दर उदाहरण है।

भाण :—भाण की कथावस्तु कल्पित होती है। रस शृंगार होता है। वीर तथा हास्य रस गौण होते हैं (नाट्य दर्पण) भाव प्रकाशकार ने शृंगार को ही प्रधानता दी है। अन्य रसों को वर्जित माना है। इसमें एक ही पात्र—जिसको विट भी कहते हैं—होता है। वह किसी धूर्त व्यक्ति का आकाशभाषित रूप में वर्णन करता है। यह वर्णन दो प्रकार का होता है—१. आत्मभूतशंसी तथा २. परसंश्रय वर्णन। यह मुख्यरूप से एक अंक का होता है। लीला-मधुर कृति को इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

प्रहसन :—यह हास्य प्रधान विद्या है। यह भाण हास्य आदि की दृष्टि से दोनों में समानता है। किन्तु इसमें आकाशभाषित अनिवार्य नहीं। इसके दो भेद होते हैं शुद्ध और संकीर्ण। संकीर्ण के दो अंक होते हैं। एक अंक का सिद्धान्त भी प्रचलित है।

व्यायोग :—ऐतिहासिक कथा, पौराणिक वस्तु और जिसमें गर्भ-विमर्श रहित तीन संधिये होती हैं। नायक धीरोदात्त होता है। दास्य तथा शृंगार को छोड़ कर छः रसों में कोई भी रस लिया जा सकता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इसमें कोई दैवी पुरुष या राजा नायक होता है। इसमें स्त्री पात्रा का

१. किसी-किसी ने धीरोदात्त नायक भी माना है।

अभाव होता है। इसमें सात्वती तथा आरभरी वृत्ति होती है। एक दिन का कार्य प्रदर्शित किया जाता है। अंक एक होता है।

अंक :—इसकी कथावस्तु प्रख्यात् होती है किन्तु कवि-कल्पना का उसमें पूर्ण सहयोग रहता है। इसमें साधारण पात्र होते हैं। स्त्री पात्र भी होते हैं। इसमें करुण रस की प्रधानता तथा सात्वती वृत्ति होती है।

समवकार :—इसका कथानक देवता तथा राक्षसों से सम्बन्धित होता है। विमर्श को छोड़कर चार संधियों की योजना होती है। धीरोद्धात या धीरोद्धत बारह एक साथ नायक होते हैं। वीर रस प्रधान होता है और आरभरी वृत्ति होती है। तीन अंक होते हैं। सन्धियों का विभिन्न अंकों में नियमित रूप से प्रयोग होता है। पहले अंक में मुख्य प्रतिमुख दो संधिये होती हैं। दूसरे में तीन और तीसरे में विमर्श को छोड़कर सभी सन्धियों की योजना होती है। इसमें कई नायकों के प्रयोजन एक साथ समवकीर्ण होते हैं इसीलिये इसका नाम समवकार रखा गया है। इन नायकों के फल भिन्न-भिन्न होते हैं।

वीथी :—वीथी का अर्थ मार्ग या पंक्ति है। इसकी कथावस्तु में संध्यांगों की पूर्ण योजना रहती है। उद्घापक की स्थापना भी। नायक शृंगार-प्रिय, इसमें पात्र दो से अधिक नहीं होते। अंक होता है। कौशिकी वृत्ति होती है। मालविका इसका सुन्दर उदाहरण है।

डिम :—इसका वृत्त प्रसिद्ध होता है और उसमें विमर्श से रहित सन्धियों का नियोजन। धीरोद्धत सालेद नायक होते हैं जो यक्ष, गन्धर्व, भूत-प्रेत आदि जाति के होते हैं। इसमें रौद्र रस प्रधान होता है। शृंगार और हास्य को छोड़कर सभी रसों की अवतारणा हो सकती है। माया इन्द्रजाल आदि चेष्टाएँ दिखाई जाती हैं। चार अंक होते हैं। इसमें विश्वकम्भक और प्रवेशक नहीं होता। भरत मुनि ने त्रिपुरादार को डिम कहा है।

ईहामृग :—ईहामृग की कथावस्तु मिश्रित होती है। जिसमें प्रसिद्ध और कल्पित वृत्त का मिश्रण होता है। तीन सन्धियाँ होती हैं। इसमें शृंगार-रस होता है। इसका ईहामृग नाम अलभ्य कामिनी की इच्छा के कारण पड़ा है।

उपरूप नाटक या रूपक का दूसरा भेद है। इसके अन्तरगत आचार्यों ने अठारह रूपक माने हैं। नाट्यशास्त्र में इनका वर्णन नहीं मिलता। संकेत रूप में पन्द्रह भेदों का पता चलता है। अग्नि पुराण में अठारह भेद गिनाये गये हैं, भाव प्रकाश में बीस। अग्नि पुराण में अठारह भेदों का कहीं वर्णन नहीं किया किन्तु भाव प्रकाश में सट्टक को छोड़कर सब की व्याख्या मिलती है। विश्वनाथ ने अठारह रूपक ही माने हैं। विद्वानों में प्रायः यही अधिक मान्य

रहे हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, तोटक; गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लास्य, काव्य, प्रेक्षणकम्, रासकम्, विलासिका, (विनायिका) दुर्भल्लिका, प्रकणिका, 'हल्लीश और माणिका। इन अठारह भेदों में तथा अन्य आचार्यों के भेदों में अन्तर भी है किन्तु मान्यता विश्वनाथ के भेदों को ही प्राप्त है। हम इन्हीं में कुछ एक का वर्णन करेंगे।

नाटिका :—इसमें स्त्री पात्रों की अधिकता होती है। राजा नायक और अच्छे गुणों वाली स्त्री नायिका होती है, शृंगार रस प्रधान होता है। क्रोध, सन्धि और दम्भ आदि भावों की व्यंजना होती है। चार अंक होते हैं। कौशिकी वृत्ति। अभिनव गुप्त के अनुसार इसमें दो नायिकाएँ एक स्वकीया, दूसरी मुग्धा। मुग्धा संगीतकार होती है और नायक उसके रूप तथा संगीत पर मुग्ध हो जाता है। 'प्रियदर्शिका' को इसके अन्तरगत रखा जा सकता है।

गोटक :—यह नाटक का ही एक भेद है। इसमें विदूषक की स्थिति के बारे में मतभेद है। कुछ आचार्य गोटक में उसका निषेध मानते हैं और कुछ अनिवार्य। इसमें सारा तत्त्वविधान नाटक का ही होता है। वास्तव में नाटक जब नृत्य प्रधान रूप धारण कर जाता है तो गोटक की कोटि में आ जाता है। 'विक्रमोर्वशीय' इसका सुन्दर उदाहरण है।

भाणिका :—इसका सारा वातावरण कोमल होता है, संगीत की प्रधानता होती है।

शसक :—इसमें उदात्त नायक होता है, उपनायक भी होता है। इसमें शृंगार तथा हास्य प्रधान होता है, ताल-लय की विविधता तथा लास्यांगों का विशेष आयोजन होता है।

भाव प्रकाश के अनुसार शसक में एक अंक नांदी, पाँच पात्र, तीन सन्धियाँ, कौशिकी, भारती वृत्तियाँ आदि होती हैं।

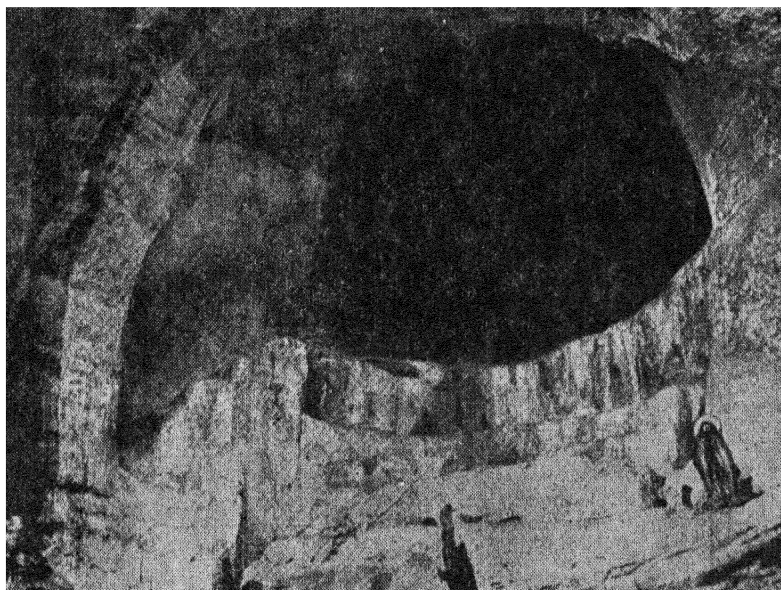
उपरोक्त भेद ही प्रसिद्ध हैं जिनका वर्णन हमने किया है। भेदों का वर्णन स्थानाभाव के कारण असम्भव है।

रंगशाला

तथा

रंगमंच

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम् ॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधं - भूमिभाग - समुत्थितं ।
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादाखनजं विधिम् ॥



सीता बेंगा गुफा की नाचशाला-अशोक काल
[श्री कृष्णदास (हमारी नाच परम्परा) के सौजन्य से]

विकृष्ट नाट्यशाला

नेपथ्य गृह

 १६×३२

रंग शीर्ष

 ८×३२

मतवारणी

 ८×८

रंग पीठ

 ८×१६

मतवारणी

 ८×८

रंग मंडल

 ३२×३२

रंगमंच तथा रंगशाला

भारत में नाट्य-कला जहाँ शिखर को स्पर्श करती थी, उसके साथ ही रंगमंच भी अपने यौवन के मध्याह्न में था। भारतीय आचार्यों ने आरम्भिक काल में ही रंगमंच के महत्त्व का अनुभव कर लिया था। क्योंकि नाटक कोई पाठ्य-कला नहीं, यह तो अभिनय कला है। जिसका सीधा सम्बन्ध रंगमंच के साथ है। भरत मुनि ने रंगशाला और रंगमंच का जो अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है वह कोई आकस्मिक प्राप्ति नहीं। इसकी पृष्ठभूमि चिरकाल की अभिनय-परम्परा का इतिहास है।

नाटक का प्रारम्भिक रूप नाच है जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में नाचा जाता है। नाच के लिए किसी विस्तृत अथवा विशाल रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। उस समय के कलाप्रेमी धरा के वक्ष पर मिट्टी का रंगमंच बना लेते होंगे अथवा लकड़ी के पट्टों का मंच बनाया जाता होगा। किन्तु नाच में कथानक के कारण कुछ परदे की आवश्यकता अनुभव हुई तो इस मंच की छोटी-छोटी आवश्यकताओं का विस्तार होने लगा। प्रत्येक कला उपलब्धि में पर्याप्त समय व्यय होता है और जब इसका प्रमाणित ढाँचा लोगों में स्वीकृत हो जाता है तो कोई विद्वान् इसी शैली को पद्धति बना लेता है। यह सिद्धान्त भरत मुनि की महान रचना 'नाट्यशास्त्र' पर लागू होता है। उसने प्रचलित रंगमंच शैलियों का अध्ययन कर उनका प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया।

यहाँ इस बात का सन्देह अनुचित नहीं कि इस रंगमंच परम्परा की पृष्ठभूमि में द्राविड़ सभ्यता का पर्याप्त योग है। हमने पीछे 'नाटक का उद्भव तथा विकास' वाले अध्याय में इस सत्य की सविस्तार चर्चा की है कि प्राचीन आर्य समृद्ध संस्कृति के स्वामी थे और वे नाच तथा नाटक के माध्यम से आमोद-प्रमोद करते थे। इस सम्बन्ध में शिव-शक्ति की पूजा हमारे मत की पुष्टि करती है। वे लोग अवश्य नाट्य-परम्परा को जन्म दे चुके थे। जैसा कि हमने आरम्भ में ही लिखा है कि नाटक अभिनय-कला है एवं रंगमंच के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है। पूर्व आर्य रंगमंच के प्रारम्भिक रूप से अवश्य ही

परिचित होंगे। इस विचार की पुष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सिन्ध नदी की सभ्यता के खण्डहरों में किसी रंगशाला का चिह्न नहीं मिलता किन्तु इस सम्भावना को निर्मूल भी नहीं कहा जा सकता। एक पौराणिक कथा (इसका वर्णन पहले किया जा चुका है) यह सिद्ध करती है कि जिन पूर्व आर्य लोगों को शूद्र कहकर तिरस्कृत किया गया था, वे नाट्य-कला के विशेष प्रेमी थे। भरत मुनि ने इनकी कला को नाट्य-शास्त्र का रूप दिया। नाटक की खोज करने वालों को इस सचाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बहुत से अन्वेषण कार्य के उपरान्त कई अनेक ठोस सचाइयाँ हमारे सामने आएँगी।

भारत के रंगशाला (प्रेशागृह) विधान का रूप आदर्श तथा यथार्थ से समन्वित था। जिस समय यह विधान पद्धति रूप में स्वीकृत हुआ, उस समय हमारे देश में सामन्तवादी समाज अपने पूरे यौवन पर था, इसी कारण उस समय की रंगशालाओं में देवताओं, राजाओं तथा उच्च अधिकारियों को प्रमुखता दी जाती थी, यह पूर्ण स्वाभाविक था। क्योंकि कला-विकास आज-कल के प्रजातन्त्र युग में भी राज्य के अधीन है। यह संरक्षता आवश्यक है किन्तु इसका प्रभाव कला-विधान पर नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि फिर निम्न वृत्ति के कलाकार शासकों की महिमा में ही लिखना आरम्भ कर देते हैं एवं उनका आशीर्वाद प्राप्त करना उनका उद्देश्य बन जाता है।

भरत के अनुसार रंगशाला का आकार गुफा के समान होना चाहिए। उन्होंने रंगशाला के मुख्य दो भेद बताये हैं। एक अभिनय स्थान तथा दूसरा दर्शक मण्डप। अभिनय स्थान के आगे पृथक्-पृथक् भाग किये हैं। आधे भाग को नेपथ्य कहा जाता था। इसमें अभिनेता तथा अभिनेत्रियों की वेशभूषा, बनाव-सिंंगार का प्रबन्ध होता था। इसमें एक द्वार रंगशीर्ष की ओर खुलता था जिसके दोनों ओर तीन 'कक्ष' होते थे जिनको तात्कालिक मंचशैली में wings कहा जाता है। इसके आगे रंगपीठ होती थी जिस पर सम्पूर्ण अभिनय किया जाता था। इन दोनों भागों के बीच में एक स्थायी दीवार होती थी जिसमें चित्र अंकित किये रहते थे। ये आवश्यक पृष्ठभूमि का काम देते थे। यह पर्दा सदैव पड़ा रहता था एवं रंगपीठ के पर्दे गिरते-उठते रहते थे। कई स्थानों पर पर्दों को उठाने तथा गिराने का कार्य कोमलांगी स्त्रियाँ करती थीं।

रंगपीठ के प्रत्येक कक्ष की ओर मतवारणी होती थीं जो आकाशीय दृश्यों के लिए प्रयुक्त की जाती थीं। भारतीय रंगमंच पर एक समय ही मात-लोक तथा देवलोक के दृश्य दिखाये जाते थे। संगीतकार रंगशीर्ष के कक्ष द्वारों

की ओर बैठते थे। भारतीय नाट्य-आचार्यों ने संगीत को विशेष महत्त्व दिया है।

प्रेक्षा-गृह में दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध बड़ा नियमबद्ध था। दोनों द्वारों पर अंग-रक्षक होते थे। सबसे आगे मंच के समीप गायिक तथा देवतागण। पश्चात् राजा, मुख्य रानियाँ तथा राजभवन की स्त्रियाँ, मन्त्री, सेनापति, परिचारिकाएँ—राज-परिवार के सदस्य, पण्डित तथा रसिक साधारण पुरुष और स्त्रियाँ क्रमशः बैठते थे।

भरत मुनि ने तीन प्रकार के प्रेक्षा-गृह वर्णित किये हैं—विकृष्ट रंगशाला, चतुरस्त्र रंगशाला और त्र्यस्त्र रंगशाला।

विकृष्ट रंगशाला १०५ हाथ लम्बी होती थी। यह विशेष रूप में देवताओं के लिए बनाई जाती थी।

चतुरस्त्र रंगशाला ६४ हाथ लम्बी तथा ३२ फुट चौड़ी होती थी। यह विशेष रूप में उच्च वर्ग के लोगों के लिए बनाई जाती थी।

त्र्यस्त्र रंगशाला त्रिभुजाकार बनाई जाती थी और इसमें सभी वर्गों के लोग बैठते थे।

माप के रूप में पहली को ज्येष्ठ, दूसरी को मध्य और तीसरी को अवर (सब से छोटी) कहा जाता था।

आजकल के विभाजन के समान, उस समय के भिन्न-भिन्न वर्गों के बैठने के ढंग को श्वेत तथा लाल स्तम्भों के अनुसार विभाजित किया जाता था। श्वेत स्तम्भों के समीप ब्राह्मण तथा लाल स्तम्भों के पास क्षत्रिय तथा उन्हीं के समीप वैश्य बैठते थे। इनके पश्चात् नीच जातियों के लिए स्थान होता था। दर्शकों के लिए दूसरी मंजिल भी बनाई जाती थी—विशेषकर आमन्त्रित दर्शकों के लिए। प्रार्थित तथा स्वेच्छा से आये दर्शकों को प्रार्थक कहा जाता था।

पूर्ण रूप में समझने के लिए विकृष्ट रंगशाला का चित्र हम पीछे दे आये हैं।

शेष दो रूपों का क्रम भी इस प्रकार होता था।

रंगमंच के कार्य को कलाकारों तथा प्रबन्धकों की एक टोली एक निश्चित पद्धति में कार्यान्वित करती थी। भरत मुनि ने मंच के कार्यों को निम्नलिखित अधिकारियों में बाँटा है।

१. सूत्रधार—निर्देशक, डायरेक्टर

२. नट—रिहर्सल इन्चार्ज

३. तैरिय—संगीत प्रबन्धक

४. वेशाकार—वस्त्र प्रबन्धक

५. मुकुट कृत—शीर्ष गहने तैयार करने वाला

६. आभरणकृत—नाटक में प्रयुक्त किये जाने वाले आभरणों का निर्माता ।

७. माल्य कृत—माला आदि बनाने वाला तथा समय पर पात्रों को पकड़ाने वाला ।

८. चित्रज्ञयः—परदे टाँगने वाला ।

९. रजक—धोबी तथा रंगरेज ।

इस उपरोक्त प्रबन्ध से पता चलता है कि उस समय कसे छोटी-से-छोटी चीज का ध्यान रखा जाता था । भरत मुनि ने तो रंगशाला में वायु के प्रबन्ध के विषय में भी पूर्ण ध्यान दिया है । वे लिखते हैं कि नाट्यशाला में वायु का अधिक आवागमन नहीं होना चाहिए । क्योंकि ऐसे स्थान में आवाज का गाम्भीर्य नहीं रहता । वे लिखते हैं—

कार्यं शैल गुहाकारो द्विभू भीर नाट्य मंडपः ।

मंदवातायनोपेतो निर्वातो धीर-शब्दवान् ॥

दर्शकों के बैठने के लिए गैलरी अथवा सीढ़ि-अनुरूप स्थान होते थे । ये स्थान भूमि से अढ़ाई फुट ऊँचे होते थे ।

नाटक के आरम्भ में देव-पूजा का अधिक प्रचार था । इस आरम्भिक पूजा को 'पूर्वरंग' कहा जाता था और इस कार्य-व्यापार के अन्तिम भाग को 'नांदी' का नाम दिया गया । इस पूजा-क्रिया के साथ-साथ अत्यन्त मधुर संगीत-ध्वनियाँ गूँजती रहतीं । इस संगीत विधान को ध्रुवा कहते थे । इस ध्रुवा के आगे पाँच भाग थे—उत्पाथनी, परिवर्ता, अपभ्रष्टा, अंगिता तथा विक्षिप्ता ।

भरत ने तो अभिनय-कला का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है । अभिनय-में, अभिनय को भूलकर हृदय की रसात्मकता को अनुभूत किया जाता था । अभिनेता वही है जो कुछ क्षणों के लिए अपना यथार्थ जीवन भूल जाये तथा दर्शकों को भी अपने जीवन के सुख-दुःख भुला दे । इसके सम्बन्ध में भरत मुनि लिखते हैं—

“अभिनयति हृदगत भावान प्रकाशयति ।”

अभिनय को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया है—

१. आंगिक—जिसमें हाथ, पाँव, आँख, सिर आदि के द्वारा अभिनय किया जाये ।

२. वाचिक—जिसमें वाणी के द्वारा अभिनय का प्रदर्शन किया जाये ।

३. सात्विक—जिसमें अश्रु, श्वेद, कम्प के द्वारा भाव प्रकट किये जाएँ ।

४. आहार्य—जिसमें यथार्थ वेश-भूषा को मुख्य माना जाये ।

पाश्चात्य विद्वानों में यह रुचि अत्यन्त प्रबल रही है कि भारत की प्रत्येक कला उपलब्धि को पाश्चात्य कला का प्रभाव सिद्ध किया जाये । रंगमंच के इतने सुन्दर प्रबन्ध को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस कला-विधान पर भी अपना प्रभाव सिद्ध करने का यत्न किया है । उनकी चर्चा का आधार एक ही शब्द है—‘यवनिका’ । जिसको यूनानी भाषा में पर्दा कहते हैं । जिसको पृष्ठभाग का पर्दा कहा जाता है । इस विचार का प्रतिपादन डा० ब्लाख तथा विडिंग करते हैं ।

श्री बलदेव उपाध्याय इसके विषय में लिखते हैं कि यूनानी नाट्य-शाला में पर्दों का प्रयोग नहीं किया जाता था, फिर इसका प्रभाव हमारे पर कैसे सिद्ध किया जा सकता है । यूनानी प्रेक्षा-गृहों में पर्दों के प्रयोग का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

श्री कृष्णदासजी^१ इस मत के अतिरिक्त और भी ठोस ऐतिहासिक प्रमाण देते हैं । वे लिखते हैं कि कालिदास, भास, हर्ष तथा राजशेखर की रचनाओं में कहीं भी यवनिका शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । सबसे प्रथम इसका प्रयोग ‘कपूरमंजरी’ में दसवीं शताब्दी में किया गया किन्तु इस शब्द की भाषा-वैज्ञानिक परिभाषा भी यूनानी आधार के उलट है । संस्कृत में ‘यवनिका’ शब्द परदे के लिए पहले ही प्रयुक्त किया जाता था फिर प्राकृतिक में प्रयुक्त होकर यह शब्द ‘जवनिका’ बन गया । ऐसा पता चलता है कि पाश्चात्य विद्वानों को और तो कोई तथ्य मिला नहीं अतः इस साधारण से शब्द के आश्रित ही वे मिथ्या का काल्पनिक पर्वत खड़ा करना चाहते हैं ।

भारत की नाट्य-शालाओं के अत्यन्त पुराने नमूने भी उपलब्ध हो गये हैं ।^२ लगभग एक शताब्दी पूर्व कर्नल जे० आर० औसली ने छोटा नागपुर, रामगढ़ में दो गुफाएँ देखी थीं, वे छोटी-सी पहाड़ी को काटकर बनाई गई थीं जो कि समुद्र से दो हजार फुट ऊँचे तल पर है । इन गुफाओं के आसपास रघुनाथजी का मन्दिर तथा अन्य कोई मूर्तियाँ स्थापित हैं । पर्वत के पश्चिम की ओर दो गुफाएँ हैं—सीता बेंगा तथा जोगीमारा । इन दो गुफाओं में नाट्य-शालाएँ हैं । दोनों में से अशोककालीन ब्राह्मी लिपि में दो शिलालेख मिले हैं । जोगीमारा गुफा में से यह शिलालेख मिला है—

१-२. हमारी नाट्य परम्परा—श्री कृष्णदास ।

सुतनुका नाम देव दाशिकयी

तम कमयथ बालान शोये ।

देव दिन नाम लूप दक्खे ।

यह गुफानुरूप नाट्यशाला किसी देवदासी के द्वारा निर्मित है जिसको एक सुन्दर संगीतज्ञ से प्रेम था । चौड़ी चट्टानें काटकर तीनों ओर बैठने योग्य स्थान बनाया हुआ है । बैठने के स्थान धरती से अर्धार्ध फुट ऊँचे तथा सात फुट चौड़े हैं । पर्दे टाँगने वाले छेद भी मिलते हैं । इस गुफा की छत पर पाँच चित्र हैं :

१. एक वृक्ष के नीचे एक पुरुष नर्तकियों तथा संगीतकारों के साथ बैठा है । दाहिनी ओर एक जुलूस-सा दिखाई देता है ।

२. ज्योमिति की रेखाओं के साथ एक पुरुष ।

३. चीड़ों और फूलों के बीच एक पुरुष खड़ा है ।

४. एक नग्न पुरुष का चित्र, जिसके आसपास तीन सेवक खड़े हैं जिन्होंने वस्त्र पहने हुए हैं ।

५. एक ओर दो पुरुष, तीन सेवक । दूसरी ओर घर की एक खिड़की, हाथी तथा तीन खड़े पुरुषों का चित्र है ।

इसी नाट्यशाला में एक ऊँची चौकी है जो सम्भवतः कविता पाठ के लिए निर्मित की गई थी ।

सीता बेंगा गुफा भी जोगीमारा की शैली के समरूप ही है । इसको महारानी सीता ने बनवाया । इसमें से यह शिलालेख मिला है—

“अंदिपयन्ति हृदयं । सभावा गुरु कवये ए

‘दुले वसतिका । हासावानु भूते गतसे कुडुमद्रतं एवं अलेग ।

डा० थिओडोर ब्लाख जब १८९४ में इन गुफाओं को देखने गये तो उन्होंने इन गुफानुरूप रंगशालाओं को यूनानी का प्रभाव बताया है । किन्तु डा० ब्लाख यह भूल गये हैं कि इन नाट्यशालाओं का निर्माण भरत मुनि के वर्णित नियमों के अनुरूप ही किया गया है कि रंगशाला गुफा के समान होनी चाहिए ।

एक और पाश्चात्य विद्वान प्रो० लूडरस ने डा० ब्लाख के इस मत को असत्य माना है । उनका विचार है कि ऐसी रंगशालाएँ यदि किसी प्रभाव के फलस्वरूप बनी होतीं तो नाट्य-शाला की रचना के विषय में इतना सविस्तृत वर्णन भरत मुनि न कर सकते । स्वयं यूनानी नाट्य-समीक्षकों ने ऐसा सूक्ष्म विस्तार नहीं किया । भारत की यह समृद्ध रंगशाला-परम्परा पूर्णतया अपनी है एवं इस पर कोई विदेशी प्रभाव नहीं ।

भारतीय तथा यूनानी काव्य-सिद्धान्त (एक तुलनात्मक दृष्टि)

दो देश विशेष अथवा दो भाषा विशेष के साहित्य शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन एक अत्यन्त कठिन तथा रोचक विषय है। आज जब कि विश्व समीप-से समीप होता चला आ रहा है। क्षण-क्षण एक देश का साहित्य दूसरे देश को प्रभावित कर रहा है अथवा परिचय में आ रहा है। आज विज्ञान की कृपा से देश-विदेश की भौगोलिक दीवारें टूट गई हैं। एक देश में उत्पन्न हुआ विचार का भोंका दूसरे क्षण दूसरे देश के वायुमण्डल में व्याप्त हो जाता है। आज वह युग नहीं रहा जब हम अपने देश की अन्य भाषाओं के साहित्य से अपरिचित रहते थे। ऐसी परिस्थिति में तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य भी हो जाता है। किन्तु इस तुलनात्मक अध्ययन से पूर्व हमें इस बात का ध्यान रखना अनिवार्य है कि दो देशों की भौगोलिक स्थिति चाहे कितनी भी भिन्न हो किन्तु मनुष्य की अन्तर चेतना सदा एक-सी रही है। यह भी हम मानते हैं कि अन्तरचेतना पर बाह्य तथा भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव भी अवश्य पड़ता है परन्तु मूल सिद्धान्त सदा एक से रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो अलग-अलग देशों का साहित्य-शास्त्र एक दूसरे के पूर्ण विपरीत होता; तो अनिवार्य था दो देशों के साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ता और एक देश का साहित्य दूसरे देश में कभी भी रसास्वादन का आधार न बन पाता। यह बात अलग है कि कोई जाति सभ्यता और सांस्कृतिक शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई हो तो उसके साहित्य-सिद्धान्त आरम्भिक अवस्था में हों किन्तु उनका मूल सदैव एक-दूसरे के अनुकूल होगा।

भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना हम संस्कृत तथा यूनानी आलोचना शास्त्र से आरम्भ करेंगे क्योंकि समस्त पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का (ज्ञान विज्ञान का) आधार यूनान ही रहा है। अतः पश्चिम में साहित्य समीक्षा का आरम्भ सर्वप्रथम यूनान में हुआ। दूसरे यूनानी तथा संस्कृत के समीक्षा शास्त्र के निर्माण-काल का भी बहुत कुछ साम्य है।

तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम सर्वप्रथम काव्यहेतुओं को ही लेते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यहेतुओं का बड़ा सूक्ष्म तथा सविस्तार वर्णन हुआ है। संस्कृत में सर्वप्रथम भामह तथा दण्डी ने ही काव्यहेतुओं का वर्णन किया है। दण्डी ने काव्य के तीन कारण माने हैं : नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल-शुद्ध लोक-शास्त्र ज्ञान, और अमन्द अभियोग।

मम्मट ने इन्हीं को कुछ अधिक स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त किया है। उन्होंने भी तीन ही कारण माने हैं : शक्ति निपुणता और अभ्यास। मम्मट के बाद के आचार्यों ने मम्मट की मान्यता को ही स्वीकार कर लिया है। किन्तु प्रतिभा तथा निपुणता के महत्व के बारे में कुछ विवाद अवश्य रहा है। भामह ने प्रतिभा को अधिक महत्व दिया है अन्य दोनों कारणों को दूसरा स्थान दिया है। दण्डी भी इसी मत के पोषक हैं किन्तु रुद्रट इन दोनों से आगे हैं, वे प्रतिभा को महत्व ही नहीं देते वे तो प्रतिभा को उत्पाद्या ही मानते हैं और उन्हें निपुणता तथा अभ्यास से श्रेष्ठ मानते हैं। आनन्दवर्धन तथा पण्डितराज जगन्नाथ भी प्रतिभा को मुख्य स्थान देते हैं। आचार्य मंगल इस मत के अपवाद हैं। उन्होंने व्युत्पत्ति को प्रतिभा से प्रथम स्थान दिया है। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं हो सका। भारतीय आचार्यों का यह मत अत्यन्त पुष्ट तथा तर्कसंगत है। माघ केशव आदि कवि जो शास्त्रज्ञान को विशेष महत्व देकर चले थे वे प्रतिभा के अभाव में उतने सफल नहीं हो सके। किन्तु प्रतिभावन कवि, कम शास्त्रज्ञान होते हुए भी काव्य कला में अधिक सफल रहे। इन सब बातों को देखते हुए अन्तिम निर्णय यही देना पड़ता है कि प्रतिभा, शक्तिनिपुणता तथा अभ्यास काव्य के समन्वित गुण हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि काव्य के गह्वरों को पार कर अन्तर तक पहुँची है।

भारतीय आचार्यों के इस मत अथवा धारणा के विपरीत यूनानी विद्वानों का इस सम्बन्धी विवेचन नहीं मिलता। प्लेटो का इस तथ्य को विवेचन करने का या काव्य के मूल कारण की खोज का तो प्रश्न ही उत्पन्न होता। वह तो काव्यकला का घोर विरोधी था। वह तो कला को अनुकरण का अनुकरण मानता था अर्थात् असत्य का अनुकरण। हाँ ! अरस्तु में इन कारणों का विवरण अवश्य मिलता है। अरस्तु ने भी यद्यपि पृथक् इनका विवेचन नहीं किया, उसने इन मूल कारणों का मूल सिद्धान्तों के अन्तर्गत कहीं विश्लेषण किया है। किन्तु काव्य का विवेचन करते समय प्रसंगवश कारणों का उल्लेख अवश्य किया है। अरस्तु ने काव्य के दो कारण माने हैं—(१) अनुकरण तथा (२) सामंजस्य की प्रकृति। अरस्तु के पूर्व काव्य दैवी प्रेरणा से उद्भूत माना जाता

था । होमर ने अपने काव्यों के आरम्भ में इसी देवी प्रेरणा को काव्य की मूल प्रेरक-शक्ति माना है । अरस्तु ने इस देवी प्रेरणा के सिद्धान्त का घोर विरोध किया । अरस्तु तात्त्विक विवेचन को महत्व देता है । अनुकरण सिद्धान्त को मानने के कारण काव्य को देवी प्रेरणा से उद्भूत मानना उसके अपने सिद्धान्त के विपरीत था । अरस्तु इस मत को दृढ़ता से स्वीकार करता था कि अनुकरण मनुष्य का नैसर्गिक गुण अथवा प्रवृत्ति है । सामंजस्य तथा लय की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव के अनुकूल है । इस प्रकार अरस्तु इस देवी सिद्धान्त का घोर विरोधी था । अरस्तु ने निपुणता तथा अभ्यास को अवश्य स्वीकार किया है, वह भी सांकेतिक रूप में । प्रतिभा का भी वह विरोधी नहीं था । वरन् प्रतिभा को समुचित आदर तथा स्थान देता था । अरस्तु के समीक्षाशास्त्र में प्रतिभा का स्पष्ट उल्लेख है । अरस्तु का यह विवेचन-मिश्रण ही यूनानी काव्य-शास्त्र में एक अन्तिम है किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र की समता में यह विवेचन तुच्छ है । भारतीय चिन्तक की दृष्टि अत्यन्त पैनी रही है । नैतिकतावादी होने के कारण या काव्य के बाह्यरूप-पक्ष को अधिक महत्व देने के कारण वह इन मूल कारणों की खोज की ओर नहीं जा सका । यह अरस्तु की बहिर्भावी दृष्टि का दोष था । यदि अरस्तु भारतीय आचार्यों की भान्ति अन्तर्मुखी दृष्टि को लेकर चलता तो इन कारणों की खोज उसके लिए कठिन नहीं थी जैसा कि उसके विवेचन से स्पष्ट है । जब अरस्तु ने देवी प्रेरणा का विरोध किया तो अरस्तु के लिए अनिवार्य हो जाता था कि वह काव्य के कारणों की खोज करता । उन्होंने खोज की भी है जैसा कि हम पूर्व बता आए हैं कि वह काव्य के मूल का कारण मानता है—अनुकरण और सामंजस्य । किन्तु हमें फिर कहना पड़ता है कि यह दृष्टि स्थूल अन्वेषी है सूक्ष्म अन्वेषी नहीं ।

अरस्तु के बाद भी प्रतिभा का पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषण किया है । अरस्तु ने प्रतिभा को सहज शक्ति या अन्तःप्रेरणा के रूप में स्वीकार किया जब कि आज विज्ञान ने उसे बहुत अभ्यास के साथ जोड़ दिया था । अन्त में हमें यही कहना पड़ता है कि अरस्तु ने अभ्यास को पहला स्थान दिया, प्रतिभा को दूसरा । प्रायः अरस्तु का यही अभिमत था ।

अरस्तु के उपरान्त पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों को यह मत मान्य नहीं हो सका । प्रायः अधिकांश ने प्रतिभा को ही प्रथम स्थान दिया, पोप आदि अनेक विद्वान् इस मत के प्रमाण हैं । इस दृष्टि से भारतीय मत यूनानी आचार्यों की अपेक्षा आज के पाश्चात्य आचार्यों के अधिक समीप है । इससे स्पष्ट है कि भारतीय प्रतिभा मूल तत्वों की खोज में सबसे आगे रही ।

भारतीय काव्यशास्त्र तथा यूनानी काव्यशास्त्र का दूसरा तुलनात्मक विषय है काव्य का प्रयोजन ।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-प्रयोजनों का भी सविस्तार वर्णन है । वास्तव में यह एक सामाजिक उपयोगिता है । यह कहावत अत्यन्त सुप्रसिद्ध है कि मूल्य-से-मूल्य व्यक्त भी बिना प्रयोजन कोई काम आरम्भ नहीं करता फिर कवि अथवा साहित्यकार जिसको संसार क्रान्तदर्शी 'परिभु स्वयंभु' मानता है, सृष्टि का रचयिता मानता है वह भला बिना प्रयोजन काव्य का निर्माण कैसे करेगा । भारतीय आचार्य इस दृष्टि से भी किसी से पीछे नहीं रहे । भारतीय आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों का बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है ।

सर्वप्रथम भरत मुनि ने काव्य प्रयोजनों का विवेचन करते हुए लिखा है—“कि नाट्य धर्म, यश आयु का साधक, हित और बुद्धिबर्धक तथा लोकोप-देष्टा होगा ।”

भामह ने भी प्रायः इन्हीं काव्यप्रयोजनों का थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उल्लेख किया है । वे लिखते हैं—सत् काव्य के निषेवन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा प्रीति की उपलब्धि होती है । प्रीति अर्थात् आनन्द को छोड़कर भरत तथा भामह के प्रयोजन एक ही हैं किन्तु आनन्द भरत से भिन्न तथा अत्यन्त अनिवार्य प्रयो-जन है जिसका भरत ने उल्लेख नहीं किया । इसका अर्थ यह नहीं कि भरत आनन्द के विरोधी थे । भरत रस सिद्धान्त के पोषक थे । उनसे ऐसी आशा करना भ्रान्ति है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में कुन्तक ने सबसे पूर्व आनन्द को सर्वप्रमुख प्रयोजन माना ।

किन्तु इन सभी आचार्यों से अधिक स्पष्ट शब्दावली का प्रयोग मम्मट ने किया :

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदेशिवेतरक्षतये ।

सद्यः पर निवृत्तये कान्तासम्मित तयोपदेशतये ॥

अर्थात् यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अशिव की क्षति, आनन्द और कान्ता सम्मित उपदेश—ये काव्य के छः प्रयोजन हैं ।

मम्मट के इस उदाहरण में आनन्द का मुख्य स्थान है । यदि वे आनन्द को सर्वप्रथम स्थान न देते 'तो कान्ता सम्मित तवोपदेश' कभी भी न कहते ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय आचार्य लोक हित तथा आनन्द, इन दो काव्यप्रयोजनों को मुख्य मानकर चले हैं । रसवादी तो रस को

ही मूल प्रयोजन मानते थे। उनके विषय में तो किसी का सन्देह नहीं हो सकता।

जब हम इसी प्रसंग में यूनानी विद्वानों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें फिर वही कहना पड़ता है कि उन्होंने अर्थात् अरस्तु ने इसका भी सकेतिक वर्णन ही किया है। फिर भी अपने काव्यसिद्धान्तों के वर्णन अथवा विवेचन में उद्देश्य सम्बन्धी प्रसंगवश प्रश्न भी उठाये हैं या यूँ कहें स्वतः आ गए हैं।

अरस्तु ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं : (१) शिक्षा तथा (२) आनन्द।

किन्तु अरस्तु ने सहत्व आनन्द को ही दिया है। वह शिक्षा अथवा ज्ञान-संग्रह को साध्य न मानकर साधन मानता है। उसका विचार है कि ज्ञानार्जन के द्वारा भी आनन्द की प्राप्ति होती है। अरस्तु का आनन्द नैतिक मूल्यों से तो मुक्त है अर्थात् उसका नैतिक मूल्य के प्रति तो आग्रह है किन्तु वह आनन्द-विरोधी नैतिक मूल्य का भी ग्रहण नहीं करता। वह तो स्पष्टतः अनैतिक मूल्य को भी—यदि वह आनन्द विरोधी नहीं, आनन्दवर्धक है—काव्य में क्षम्य मानता है किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं निकलता कि अरस्तु का आनन्द कोई पारलौकिक वस्तु है। अरस्तु का आनन्द न आध्यात्मिक है न प्रत्यक्ष इन्द्रियों से प्राप्त आनन्द या बुद्धि का आनन्द है। अरस्तु का आनन्द तो स्वाभाविक जीवन के भावात्मक ज्ञान का आनन्द है। वास्तव में इस आनन्द को कल्पना का आनन्द कहना अधिक समीचीन है। अरस्तु के बाद के प्राचार्यों ने भी काव्य-आनन्द को कल्पना का आनन्द ही घोषित किया है। वास्तव में अरस्तु का आनन्द कल्पना का आनन्द था।

अरस्तु के इस आनन्द प्रयोजन का भारतीय आनन्द प्रयोजन से तुलना कर लेना भी अप्रासंगिक नहीं। भारतीय आनन्द प्रयोजन तथा अरस्तु अथवा पाश्चात्य काव्य आनन्द प्रयोजन दोनों आनन्द की कोटि में होते हुए भी भिन्न हैं। अरस्तु का आनन्द कल्पनाजन्य है, भारतीय आनन्द रागात्मक तत्त्व संयुत। कल्पना का आनन्द और रस का आनन्द दो भिन्न आनन्द हैं। रस का या भारतीय आनन्द का सीधा सम्बन्ध भावों से है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस मन की उस स्थिति को कहा गया है जिसमें सहृदय व्यक्तिगत रागद्वेषों को भूलकर काव्य में वर्णित भावों के साथ साक्षात्कार कर जब रागमय आनन्द व चेतना में डूब जाता है तो उसे रस आनन्द कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि अरस्तु या पाश्चात्य का आनन्द और भारतीय आनन्द एक-दूसरे के विरोधी न होते हुए एक भी नहीं। भारतीय रस में व्यक्ति तत्त्व का प्रधानता है। अरस्तु में व्यावहारिक तत्त्व की। इस प्रसंग में भी अरस्तु व्यावहारिकता से आगे नहीं बढ़ा। इसके अर्थ यह नहीं कि वह इस प्रकार की सूक्ष्म विवेचना करने से असमर्थ

था। अरस्तु प्रखर बुद्धि का स्वामी था किन्तु वादल के अनुकरण के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण वह इस सूक्ष्म विवेचन तक नहीं पहुँच सका। इसके पीछे एक कारण यह भी है कि अरस्तु के पूर्व इस प्रकार की कोई अत्यन्त पुरान परम्परा भी नहीं थी। भारतीय आचार्यों के पूर्व आनन्द की एक व्यापक परम्परा थी। हमारे तो यहाँ वेदों में ही आनन्द अथवा रस शब्द की घोषणा हो चुकी थी। भारतीय वैदिक-कालीन आर्य तो जीवन की सार्थकता ही आनन्द में मानते थे। फिर वह आनन्द भी काल्पनिक नहीं था वरन मन की रागात्मक चेतना से उद्भूत हुआ था। उसमें बुद्धि का नहीं प्रकृति का योग था। इसी विशाल परम्परा के कारण भारतीय आचार्य रस अर्थात् रागात्मक आनन्द की स्थिति को पा सके। हम पीछे कह आए हैं कि अरस्तु व्यावहारिक चेतना मनीषी था इसीसे वह अनुकरण सिद्धान्त का निर्माण कर सका तथा आनन्द की कल्पना से पृथक् नहीं कर सका।

सारांश में भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के काव्य के दो ही उद्देश्य हैं : लोक मंगल तथा आनन्द।

ट्रेजडी—भारतीय काव्यशास्त्र पर यह दोष लगाया जाता है कि उस में ट्रेजडी अर्थात् दुखान्त अथवा शोकान्त का अभाव है। इसीके अभाव का शोर मचाकर भारतीय काव्य को उच्चकोटि के काव्य से वंचित किया जाता है। पाश्चात्य दृष्टि की यह एक भयानक भूल है। यह तो निःसंदेह स्वीकार करते हैं कि भारतीय काव्य तथा काव्यशास्त्र ट्रेजडी को प्रमुखता देकर नहीं चला किन्तु भारतीय काव्य तथा काव्यशास्त्र में शोकान्त का पूर्ण अभाव भी किसी अर्थ में स्वीकार करना कठिन है। नीचे हम इसी काव्य सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

अरस्तु तथा पाश्चात्य ट्रेजडी का और भारतीय करुण रस का प्रयास साम्य है। अरस्तु के शोकान्त में दो भावों या मनोवेगों का सहभाव है, एक शोक दूसरा त्रास का। भारतीय करुण रस में शोक भाव का ही समावेश है। ट्रेजडी में जहाँ करुणापूर्ण स्थिति के साथ त्रास भी उत्पन्न किया जाता है—त्रास उत्पन्न करने का आधार अरस्तु के पास वय, यातना, शारीरिक कष्ट है किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसा नहीं। हमारे यहाँ करुणा में वाद्य अथवा इष्ट का नाश अथवा मृत्यु अनिवार्य नहीं। करुणा इष्ट नाश तथा बिना शारीरिक यातना के भी उत्पन्न की जा सकती है, मृत्यु के द्वारा भी किन्तु मृत्यु में त्रास के भाव का होना अनिवार्य नहीं। 'उत्तर रामचरित' करुणा-प्रधान है। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में इससे अधिक करुणापूर्ण काव्य सम्भवतः संस्कृत

काव्य में और नहीं किन्तु उसमें वध, यातना शारीरिक कष्ट तथा मृत्यु का अभाव है। इस सब का कारण यही है कि भारतीय विद्वान मनोवैज्ञानिक आधार पर शोक तथा त्रास को दो भिन्न भाव मानकर चले हैं। मनोविज्ञान के आधार पर यह है भी उचित। शोक तथा त्रास दो भिन्न भाव हैं किन्तु विरोधी नहीं वरन् मित्र भाव हैं। हमारे यहाँ शोक का रस करुणा है और त्रास का भयानक। ट्रेजडी में इन दोनों का मिश्रण है। करुणा में तथा भयानक में दो भाव हैं। इसी मनोवैज्ञानिक मनोवेग भिन्नता के कारण दोनों सिद्धान्तों में अन्तर उत्पन्न हो गया है। हमारे यहाँ नाटक में तो भरत मुनि ने वध, मृत्यु आदि को वर्जित माना है। यदि रोमांच की दृष्टि तथा तात्विक दृष्टि से यह बंधन न होता तो सम्भवतः यहाँ करुण और भयानक की आधारभूत सामग्री हो जाती और यहाँ शोकान्त ट्रेजडी का रूप धारण कर लेता।

आज भारतीय काव्यशास्त्र में यह प्रश्न उठाना कि शोक (करुण) इसकी कोटि में कैसे आ सकता है। दुःख से आनन्द की अनुभूति कैसे हो सकती है, उचित नहीं। इस पर संस्कृत साहित्य में पर्याप्त विचार हो चुका है। इस प्रसंग में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि भारतीय दृष्टिकोण से दुःख भा उस समय आनन्द अथवा रस की कोटि में आता है जब सहृदय रज सत्वतम आदि गुणों से ऊपर उठकर मुक्तावस्था में पहुँचकर अभिव्यक्त भाव के साथ ऐक्यरूप हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य के रागद्वेष सभी समाप्त हो जाते हैं, हृदय निर्वल हो जाता है। आज तो समस्त पाश्चात्य आलोचना शास्त्र में यह मत सर्वस्वीकृत हो चुका है। काव्यशास्त्र ही नहीं दर्शन के क्षेत्र में इसकी मान्यता स्वीकृत हो चुकी है। आरम्भ में कुछ लोग व्यावहारिक जीवन का सहारा लेकर इसके रस होने में सन्देह करते रहे। उनका विचार था कि दुःख जब जीवन में आनन्दानुभूति नहीं जगा पाता तो साहित्य में वह रस अर्थात् आनन्द रूप कैसे धारण कर सकता है। आज यह प्रश्न हास्यास्पद बन चुका है। यदि थोड़ी देर के लिए इसको मान भी लिया जाए तो फिर तो भयानक, रौद्र, वीभत्स रस एक शब्द में शृंगार को छोड़कर सभी रसों के बारे में यह सन्देह हो सकता है। ऐसी स्थिति में तो कई बार शृंगार भी रस की कोटि से च्युत किया जा सकता है।

वास्तव में कोई भाव तब तक रस नहीं बनता जब तक वह व्यक्ति अपने तक सीमित रहता है। किन्तु साहित्य में व्यक्ति का भगड़ा समाप्त हो जाता है। इस रस की अवस्था में वह मुक्तावस्था में होता है। यह मुक्तावस्था ही आनन्द की जननी है। इस दृष्टि से कोई भी मन का भाव साधारणीकृत होकर रस की कोटि में आ सकता है। ट्रेजडी की भी यही स्थिति है। वह भी आनन्द

की उताराया है। क्योंकि उसमें भी शोक, आस, सार्वभौम रूप धारण कर लेता है। उसका सार्वभौम रूप एक प्रभाकार का साधारणीकरण ही है। ट्रेजडी इसलिए भी मन पर अधिक गहरा प्रभाव डालती है क्योंकि वह हमारे मनोवेगों को अधिक तीव्रता से झकझोरती है। हृदय की वृत्तियों जितनी दुःख में द्रवित होती हैं उतनी और किसी भाव में नहीं। जिस भाव में जितनी तीव्रता होगी उतना ही वह प्रभावोत्पादक होगा। उतना ही उसमें आकर्षण होगा। शोकान्त साहित्य के अधिक पढ़ा जाने का कारण भी यही भाव की तीव्रता है।

संस्कृत साहित्य में शोकान्त का प्रायः अभाव रहा है, पर इतना अभाव नहीं है, जितना संस्कृत साहित्य का अध्ययन न करने वालों को दिखाई देता है। नीचे हम संस्कृत की रचना का परिचय देगे जो रचनाएँ शोकान्त है।

संस्कृत में आदि नाटककार भास है। भास के दो नाटकों में ट्रेजडी के तत्व विद्यमान हैं। वे नाटक हैं 'प्रतिमा' और 'उरुभंग'। प्रतिमा में दशरथ की मृत्यु-सूच्य में वर्णित न होकर दृश्य रूप में वर्णित है। यद्यपि रंगमंच की दृष्टि से भरत ने वध मृत्यु आदि के दृश्यों को वर्जित माना है। इनका सूच्य में कथन करना उपयोगी माना है किन्तु ऐसा होने हुए भी दुर्योधन का भीम के द्वारा वध रंगमंच पर ही घटित होना है। अभिषेक में भी वाल्मिकी का दृश्य है। वध के अतिरिक्त हत्या के प्रयत्न सम्बन्धी दृश्य भी अनेक नाटकों में वर्णित हैं। मृच्छकटिक में शकार के द्वारा वसन्त सेना के वध का प्रयत्न दिखाया गया है। रत्नावली में सागरिका का आत्महत्या के प्रयत्न में शोकान्त का रूप है। गहन शोक अथवा गहन मानसिक यातना की दृष्टि से 'उत्तर राम-चरित' एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। जिसके सहारे भवभूति संस्कृत साहित्य में अमर हो गया।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक शोकान्त तत्त्व से शून्य नहीं। हाँ एक बात अवश्य है कि उरुभंग को छोड़कर समस्त संस्कृत साहित्य का अन्त शोकान्त नहीं वरण मुखान्त है। यह अन्तर भारतीय जीवन-दृष्टि का अन्तर है। संस्कृत के मृजनात्मक साहित्य की भाँति संस्कृत आलोचन शास्त्र भी इसी सिद्धान्त का पोषक है। संस्कृत आलोचन शास्त्र जीवन का अन्त मुखान्त देखने का ही पक्षपाती था। सो वही साहित्य में घटित हुआ। नाट्य-शास्त्र से लेकर परवर्ती समीक्षा-शास्त्र में भी करुण-रस, उसके अनुभाव, निर्वेद और संचारी भाव—निर्वेद, ग्लानि दैन्य अश्रुपात व्याधि और मरण का सविस्तार वर्णन यही प्रकट करता है कि भारतीय काव्यशास्त्र तथा साहित्य शोकान्त से शून्य नहीं था वरण पुष्ट था किन्तु जीवन-दृष्टि तथा रस के परिपाक के

लिए वध आदि का रंगमंच पर घटित होना वर्जित मान लिया गया। यहाँ पहुँचकर अरस्तु तथा भारतीय आलोचक दो भिन्न दृष्टियों के स्वामी बन जाते हैं। काव्य के इन आन्तरिक सिद्धान्तों को छोड़कर जब हम कला का विचार करते हैं तो यूनानी और भारतीय काव्य शास्त्र की तुलना व्यर्थ जान पड़ती है। क्योंकि संस्कृत आलोचना-शास्त्र में काव्य के बाह्य पक्ष को लेकर एकमात्र उनका सविस्तार वर्णन ही नहीं यहाँ तो बाह्य पक्ष के सम्प्रदाय ही खड़े हो गए। जिन सम्प्रदायों में रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय तो अपने विवेचन में अपना धर्मरूप हैं। इन सम्प्रदायों से भिन्न इन सम्प्रदायों के लक्षण ग्रन्थों में तथा अन्य रस-ध्वनि आदि के ग्रन्थों में शब्द-शक्ति विवेच, दोष विवेच गुण, रीति और अलंकार का विवेचन, यूनानी काव्य-शास्त्र तो क्या समस्त पाश्चात्य आलोचना शास्त्र से अधिक पृष्ठ है। अरस्तु के काव्य शास्त्र में तो छन्द का विवेचन भी भारतीय काव्य-शास्त्र के सम्मुख तो तुच्छ ही जान पड़ता है। शब्द-शक्ति तथा दोष आदि का विवेचन भी कोई महत्व नहीं रखता। इसका अर्थ यह नहीं कि अरस्तु की दृष्टि इस विषय में पैनी नहीं थी। अरस्तु ने इन अंगों का अर्थात् भाषा, शैली तथा दोषों का वर्णन बड़े मनोयोग से किया है किन्तु उसका अधिक व्यापक रूप देने में असमर्थ रहे। इस दृष्टि से अरस्तु अथवा यूनानी समीक्षक बहुत पीछे रहे।

और तो क्या अकेला नाट्य-शास्त्र ही नाटक की पूर्णता को स्पर्श कर लेता है जबकि अरस्तु नाट्य-विवेचन में कुछ मूलभूत अंगों के बिना नाटक के अन्य सभी अंगों को छोड़ देते हैं।

आधुनिक युग के पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र को छोड़कर समस्त पुरातन पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र अकेले नाट्य-शास्त्र की समता नहीं कर सकता, इससे स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि कितनी पैनी, सूक्ष्म तथा व्यापक थी।

हमारे प्राचीन समीक्षाकार

भारतीय आलोचना-शास्त्र का इतिहास अभी तक तमसाच्छन्न पड़ा हुआ है। अधिकांश आचार्यों के जन्म, वंश, माता-पिता, स्त्री, पुत्र तथा जीवन के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञात नहीं। ऐसा होने के कई कारण खोजे जा सकते हैं। मेरे विचार में दो कारण मुख्य हैं, पहला कारण है भारत में इतिहास एवं निर्माण की ओर लेखकों का बिल्कुल ध्यान न होना। इतिहास के अभाव में अनेक व्यक्तियों के जीवन-चरित तथा उनकी रचनाएँ इतिहास के अन्धकार में विलीन हो गई। दूसरा कारण है भारतीय आचार्यों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण। भारतीय दार्शनिक ईश्वरीय शक्ति को समस्त कर्मों का कर्ता मानने के कारण अपने कर्म को महत्त्व नहीं देते थे। जो कुछ महान बन पड़ता था उसका यश ईश्वर को देते हैं। यही कारण है कि वेद जैसी महान रचनाएँ अपौरुषेय मानी गई। यही दो मुख्य कारण हैं, वैसे तो और अनेक कारण ढूँढ़े जा सकते हैं, और हैं भी, किन्तु वे कारण गौण हैं।

नीचे हम भारतीय आलोचना-शास्त्र का तथा उसके निर्माता आचार्यों का जितना कुछ इतिवृत्त तथा जो कार्य मिलता है, उसका वर्णन करेंगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आलोचना-शास्त्र का प्रथम विवरण हमें पाणिनीय की अष्टाध्यायी में मिलता है। पाणिनीय का समय सातवीं शती विक्रम पूर्व ठहरता है। इस रचना से हमें ज्ञात होता है कि इस समय तक नट-सूत्रों की रचना हो चुकी थी। अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व द्वारा रचित नट-सूत्र उपलब्ध नहीं। इनके साथ कश्यप ब्रह्मदत्त एवं नन्दिस्वामी के ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं।

(१) भरत—भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य भरत हैं जिनकी रचना आज उपलब्ध है। इतिहास में दो भरतों के नाम मिलते हैं—वृद्ध भरत तथा भरत। वृद्ध भरत ने १२ हजार श्लोकों से युक्त नाट्य वेद की रचना की थी। भरत का 'नाट्यशास्त्र' आज उपलब्ध है। यह ग्रंथ एकमात्र नाट्य पर ही आधारित नहीं, यह समस्त ललित कलाओं का विवेचनात्मक ग्रंथ है, इसमें

३६ अध्याय हैं। लगभग पाँच सहस्र श्लोक हैं। इसमें नाट्य की उत्पत्ति, अभिरूप से सम्बन्धित विभिन्न विषयांगों, रस तथा भाव का वर्णन तथा दोष, गुण, अलंकार आदि का उल्लेख है। काव्य ही नहीं अन्य ललितकलाओं का भी सर्वांग वर्णन है। इस पर अनेक टीकाएँ तथा भाष्य लिखे गये किन्तु आज इसकी एक ही व्याख्या अभिनव गुप्त की उपलब्ध है।

(२) **भामह**—भामह का समय षष्ठ शतक का पूर्वार्ध माना जाता है। भरत के उपरान्त भामह ही काव्य-शास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं। भामह के पूर्ववर्ती मेघाविरुद्ध का नाम आता है किन्तु उसका परिचय उपलब्ध नहीं।

भामह के पिता का नाम रकिलगोमी था। विद्वानों के विचारानुसार वह काश्मीर के निवासी हैं। इन्होंने न्यायदीप के वर्णन में बौद्ध न्याय को आधार बनाया है। इनका 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का लक्षण दिङ्नाग के आधार पर है, अतः इनका समय धर्मकीर्ति तथा दिङ्नाग के बीच पड़ता है। वह बौद्ध न होकर ब्राह्मण थे। इनका ग्रंथ 'काव्यालंकार' है, जिसमें छः परिच्छेद हैं। इसमें काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद, अलंकार दशदोष, न्याय-विरोधी दोष तथा 'शब्द शुद्ध' का वर्णन मिलता है। इसके सिद्धान्त हैं 'शब्दार्थौ काव्यं' माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन गुण, वक्रोक्ति एक अलंकार, रीति के स्थान पर काव्य गुणों पर आस्था।

(३) **दण्डी**—इनका समय सप्तम शती माना जाता है। इनके जीवन-वृत्त के बारे में इतना ही ज्ञात है कि दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव-नरेश सिंहविष्णु के सभापंडित थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यादर्श' है, इसका एक तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध हुआ है। कन्नड़ भाषा के प्राचीन ग्रंथ 'कविराज मार्ग' में इनके सिद्धान्तों तथा श्लोकों का अनुवाद भी संग्रहीत है। काव्यादर्श एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके चार परिच्छेद हैं। श्लोकों की संख्या छः सौ के लगभग है। इसमें लक्षण, भेद, रीति, गुण का विवेचन, अलंकारों तथा दोषों का वर्णन किया गया है।

(४) **वामन** : अन्य आचार्यों तथा कवियों की भाँति वामन का जीवन-वृत्त अन्धकार में खो चुका है। आज हम उनके जन्म, वंश, माता-पिता आदि के विषय में कुछ नहीं जानते। वे इतिहास के युग में हुए, यह भी तमसाधन है। फिर भी हम वामन के 'काव्यालंकार सूत्र' तथा अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का सहारा लेकर उनके आविर्भाव का समय निश्चित कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम उन रचनाओं को लेते हैं जिनमें वामन के उद्धरण संग्रहीत किये गए हैं। वामन के सिद्धान्त तथा उद्धरण हमें राजशेखर की काव्य-मीमांसा

और आनन्दवर्धन में मिलते हैं। आनन्दवर्धन का समय सम्भवतः नवम शती का मध्य भाग है। राजशेखर का समय दशम शती है। इससे यह निश्चित है कि वामन का समय नवम शती के मध्य भाग से पूर्व था।

इसके साथ वामन के ग्रन्थ में कालिदास, भवभूति, वाण आदि के पद भी उद्धृत हैं, जिनसे यह स्पष्ट है कि वे इनके परवर्ती थे। इतिहासकारों ने भवभूति का समय सन् ७०० और ७४० के बीच माना है। इस प्रकार वे ७४० और ८५० के बीच ठहरते हैं।

कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि वामन काश्मीर-नरेश जयापीड के मन्त्री थे। जयापीड का राज्यकाल १०० ई० है। काश्मीरी पण्डितों की अनुश्रुति तथा अनेक पाश्चात्य विद्वान् जयापीड के मन्त्री को ही वामन मानने का आग्रह करते हैं। ऐसा न मानने के विना हमें भा कोई युक्ति नहीं मिलती।

वामन की कीर्ति का स्तम्भ वामन-रचित 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' ही है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभाजित है। इसमें ३१५ सूत्र हैं। इसमें काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, रीति, गुण-दोष, अलंकार तथा शब्द-शुद्धि का वर्णन है। इनका मुख्य सिद्धान्त है रीति। 'रीति ही काव्य की आत्मा है' इस सिद्धान्त के प्रतिपादक वामन हैं। इस ग्रन्थ में वामन की उपलब्धि यही है कि उन्होंने रीति को शैली के वृत्त से निकाल काव्य का मूल सिद्धान्त घोषित किया। काव्य के सभी अंगों को रीति का ही विस्तार माना, नवीन सम्प्रदाय के जन्म के कारण संस्कृत आलोचना-शास्त्र में इनका नाम सदा अमर रहेगा।

(५) उद्भट्ट : उद्भट्ट भी सम्भवतः जयापीड के सभापति उद्भट्ट ही हैं। यह वामन के समकालीन आचार्य थे। प्रतिहारेंद्रराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ के आधार पर उद्भट्ट आनन्द से प्राचीन हैं। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में उद्भट्ट के मत का स्पष्ट उल्लेख है। इससे पता चलता है इनका समय भी अष्टम शती का उत्तरार्ध ही है। यह अलंकारवादी थे।

इनके तीन ग्रन्थों के नाम मिलते हैं—(१) काव्यालंकारसार संग्रह, (२) भामह विवरण (भामह के ग्रन्थ की टीका), (३) कुमार संभवकाव्य। पर ग्रंथ आज अनुपलब्ध है। यह अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य थे।

काव्यालंकार सार संग्रह : इसमें अलंकारों का भी विवेचन है। यह विवेचन नाम गणना मात्र न होकर एक गंभीर तथा वैज्ञानिक विवेचन है।

इसमें अर्थ तथा अर्थभेद, श्लेष अलंकार के दो भेद—शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष—दोनों को अर्थालंकार मानना, काव्य का तीन प्रकार का अभिधा व्यापार, काव्यगुणों के संघटन का धर्म, आदि का विवेचन है।

अलंकार सम्प्रदाय का यह आदिम तथा मान्य ग्रन्थ है।

(६) रुद्रट : यह वामन तथा उद्भट्ट के परवर्ती आचार्य हैं। यह काश्मीरी थे। अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका कि शृंगार तिलक के कर्ता रुद्रभट्ट से भिन्न थे या दोनों एक हैं।

इनका काव्यालंकार १६ अध्यायों में विभक्त है। इसमें काव्य का स्वरूप, शब्दालंकार-अर्थालंकार वृत्तियाँ, रीतियाँ, दोष, रस और नायिका-भेद आदि का वर्णन किया गया है। इसमें रस तथा अलंकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। नए-नए अलंकारों का भी आविष्कार किया है।

(७) आनन्द वर्धन : आनन्द वर्धन का समय ६५५ ई० तथा ६६३ के बीच ठहरता है, क्योंकि ये काश्मीर के प्रसिद्ध राजा अवन्तिवर्मा के सभा-पण्डित थे। अवन्तिवर्मा का समय इतिहास में ६५५-६६३ ई० है।

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। यह ग्रन्थ विषय की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन, विषय की गम्भीरता का दृष्टि से संस्कृत समीक्षा-शास्त्र में अद्वितीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कारिका तथा वृत्ति दो रूपों में लिखा गया है। अभिनव गुप्त के आधार पर यह प्रायः प्रमाणित है कि कारिका तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन ही है, दो भिन्न व्यक्ति नहीं; अभिनव गुप्त की ध्वन्यालोक लोचन टीका सभी उपलब्ध टीकाओं में महत्वपूर्ण टीका है, जिसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का महत्व प्राप्त है।

आनन्द वर्धन ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। इस ग्रन्थ में पूर्ववर्ती आचार्यों के ध्वनि सम्बन्धी विचारों का विवेचन, ध्वनि के भेद-उप-भेद आदि का सूक्ष्म वर्णन है।

इनके अन्य ग्रन्थों में 'देवीशतक' ही उपलब्ध है। अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

(८) अभिनव गुप्त : इनका समय ६६० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जाता है। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था। इनके पिता काश्मीर में चुखलक के नाम से प्रसिद्ध थे। माता का नाम विमलका था। इन्होंने अनेक विद्वानों से शास्त्राध्ययन किया, जिनमें नरसिंह गुप्त, भट्ट, इन्द्रराज तथा भट्टतीत प्रसिद्ध है। इन्होंने लगभग ४० ग्रन्थों की रचना की। तन्त्रालोक तथा प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी दार्शनिक रचनाएँ हैं। समीक्षा शास्त्र में इनके दो ग्रन्थ अभिनव भारती तथा ध्वन्यालोक लोचन प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में रस तथा ध्वनि का इतना सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक वर्णन मिलता है कि परवर्ती आचार्य इनके विवेचन प्रायः मौन भाव से स्वीकार करते रहे हैं।

(९) कुन्तक—इनका समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध था। यह

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवित है। इसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का सूक्ष्म भेद वर्णन है। यह युगान्तरकारी ग्रन्थ है। इन्होंने इसमें वक्रोक्ति को अलंकार मात्र न मानकर काव्य का मूल-सिद्धान्त माना है। यही इनकी काव्यशास्त्र में मान्यता है।

इनके बारे में भी अन्य आचार्यों की भाँति साहित्य मौन है।

(१०) धनञ्जय—महिम भट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि-विरोधी आचार्य हैं। यह सिद्धान्त रूप से रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं और ध्वनिवाद के खण्डनकर्ता हैं।

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक' है। यह नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी विशाल ग्रन्थ है। इनका विवेचन संक्षिप्त तथा अत्यन्त सूक्ष्म है।

इनका समय ६७४-६६० ई० के बीच है। यह और इनके भाई धनिक नरेश भुञ्जराज (धारा के राजा) के सभा-पंडित थे।

(११) भोजराज—यह धारा के राजा थे। समीक्षाशास्त्र में इनका अद्वितीय स्थान है। इनके दो ग्रन्थ हैं—'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश'। इनका पहला ग्रन्थ विश्वकोष माना जाता है। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में साहित्य-शास्त्र के सभी अंगों का सविस्तार वर्णन है। इसमें २४ गुणों का, १६ दोषों का, २४ शब्दालंकारों का, २४ अकालंकारों का, २४ उपमालंकारों का वर्णन मिलता है। इसके साथ रस, भाव, संधियों, वृत्तियों का विस्तृत वर्णन है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का कारण मुख्य रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन है।

(१२) मम्मट—इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

मम्मट ध्वनि-विरोधी आचार्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में काव्य-लक्षण, वृत्ति-विकार, गुण, दोष, अलंकार और ध्वनि का सविस्तार वर्णन किया है। इस पर सबसे अधिक टीकाएँ रची गईं।

(१३) क्षेमेन्द्र—यह भी ११वीं शती के उत्तरार्ध में हुए। यह काश्मीर-निवासी थे। इनके दादा का नाम प्रकाशचन्द्र तथा उनके पिता का नाम सिन्धु था। वह औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध हैं। वह पहले शैव मतावलम्बी थे। बाद में वैष्णव धर्म में आ गये। इनके ग्रन्थ हैं—'औचित्य विचार चर्चा', 'कण्ठाभरण', 'दशावतारचरित'।

'कण्ठाभरण' कवि-शिक्षा-विषयक ग्रन्थ है। 'औचित्य विचार चर्चा' में काव्य के औचित्य सिद्धान्त की स्थापना का विवेचन है। इन्होंने औचित्य का सम्बन्ध पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार तथा रस से माना है।

